शतपथ ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
की
संस्कृत विषय में
डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

अक्टूबर-2002

निर्देशक
डॉ० हरिशंकर त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता
गुलाब चन्द्र दुबे
एम० ए०, एल० एल० बी०

डा0 हरिशंकर त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रमाण-पत्र

बड़े हर्ष के साथ प्रमाणित कर रहा हूँ कि श्री गुलाव चन्द्र दुवे संस्कृत विषय में डी0 फिल0 की उपधि हेतु मेरे निर्देशन में "शतपथ ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन" शीर्षक विषय पर अपना शोध कार्य विश्वविद्यालय के नियमानुसार मेरे सानिध्य में रह कर पूर्ण किया है। यह उनका मौलिक कार्य है। अतः उनके कार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट होकर उनकी सफलता की कामना करता हुआ परीक्षणार्थ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

ह0 श0 त्रिपाठी

"आत्म निवेदन"

"शतपथ ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन" पर प्रस्तुत शोध कार्य मेरा अपना स्वयं का प्रयास नहीं है, अपितु कुछ श्रेद्धय महानुभावों तथा विद्वतजनों की अनुकम्पा का परिणाम है। मैं ऐसे समस्त महापुरुषों के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करना परम् कर्तव्य समझता हूँ।

शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से प्रभावित होकर तथा उसकी महत्ता को देखते हुए मैंने उपर्युक्त विषय पर शोध करने की इच्छा अपने पूज्य गुरुदेव प्रो० हरि शंकर त्रिपाठी (अध्यक्ष संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) के समझ प्रकट की, पूज्य गुरुदेव ने अपनी व्यस्ततम् दिनचर्या में से अमूल्य समय निकाल कर मेरे इस शोध कार्य को पूरा कराने में मेरा मार्ग दर्शन एवं मनोबल बढ़ाने में अद्वितीय सहायता की। उनके कुशल निर्देशन, संचालन, सतत् मार्ग दर्शन एवं संकेतों पर यह शोध कार्य पूरा हो सका है। प्रस्तुत शोध कार्य में आपके द्वारा जो सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं जीवन पर्यन्त आपका ऋणी रहूँगा।

इसके अतिरिक्त मेरे इस शोध कार्य में मेरे पूज्य पिता श्रद्धेय श्री परशुराम दुबे, माता श्रीमती प्रभावती दुबे एवं पत्नी श्रीमती ऊषा दुबे का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने सदैव मुझे इस शोध कार्य के लिए समय-समय पर प्रेरित किया तथा विषम परिस्थितियों में भी हतोत्साहित नहीं होने दिया।

अपने इस शोध कार्य को पूरा करने में मुझे परिवार के अन्य छोटे-बड़े सदस्यों, सगे-सम्बन्धियों तथा इष्ट मित्रों का अतुलनीय सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा। इन सब लोगों के प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

मेरे अल्पज्ञान के कारण इस कार्य में त्रुटियॉ हुई होंगी। अतः विद्वानों से अनुरोध करता हूँ कि जहॉ कहीं भी त्रुटि रह गई हो उसे मुझे निर्देश देकर कर कृतार्थ करें। इसके अतिरिक्ति टंकण यन्त्र की अशुद्धियों के लिए भी विद्वानों से क्षमा प्रार्थना करता हूँ कि जहॉ कहीं भी त्रुटि या अशुद्धि रह गयी हो उसमें संशोधन कर पढ़ने का कष्ट करें।

अपनी इस कृति को आज मूर्धन्य विद्वान परीक्षकों के हाथों में अर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अव इस कृति में जो भी न्यूनताये रह गयी हों उन्हें क्षमा करें, क्योंकि उनका आकलन करने में वे ही समर्थ हैं। आशा है कि मेरे परिश्रम का मूल्यांकन करके मेरा उत्साह संवर्धन करेगें तथा अपना अमूल्य सुझाव देकर मुझे कृतार्थ करेंगें।,

विनयावनत

गुलाब चन्द्र दुवे

गुलाब चन्द्र दुवे

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम् अध्याय

अध्याय - प्रथम

सामाजिक दशा

सामाजिक दशा शीर्षक के अर्न्तगत शतपथ कालीन निम्नलिखित विन्दुओं पर विचार किया गया है-

प्रथम परिच्छेद

वर्ण व्यवस्था

शतपथ कालीन मूल भिन्तिवर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख शतपथ में हुआ है। वैदिक भाषा का वर्ण शव्द भी अब तक व्यवहार में आता था। यद्यपि जाति का नया शब्द भी प्रचलित हो चुका था। गोत्रों और चरणों की पृथक जातियां होने लगी थी। जाति शव्द से गोत्र और चरण दोनों अभिप्रेत हैं। कतरकठः (इन दोनों मे कौन कठ है)। कतमकठः (इनमें कौन कठ है?) ये दोनों प्रश्न चरण सबन्धी पूछताछ पिषयक होने पर भी जाति परिप्रश्न के उदाहरण हैं।

वस्तुतः बैदिक काल में गोत्र और चरणों मे भेदों के अनुसार अनेकों जातियाँ विकशित हो रही थीं। गोत्रों के प्रकरण में जो लगभग एक सहस्र नाम हैं, उनका सामाजिक स्वरूप अलग-अलग जातियों के रूप में संगठित हो गया था। विशेषतः पंजाव, सिंध और सीमाप्रान्त की जाति-उपजातियों के नामों का अध्ययन करने से यह सच्चाई स्पष्ट हो जाती है। गोत्र को हम छोटी-छोटी जातियों के अर्न्तगत अल्लों के रूप में पाते हैं।

आज भी पीढ़ी दर पीढ़ी इनमें से बहुत से नाम चले आते हैं। यह स्वाभाविक है कि उन नामों का हमारे समाज में नितान्त लोप न हुआ हो।

"अरोड़े, खत्री, सहरालिए, अग्रवाले" आदि अनेक जातियों के अर्न्तगत जो वहुत सी उपजातियाँ हैं, उनके नामों की पहचान आज भी मिलती हैं।

जैसे- अरोड़े, खत्रियों में कंवर, हंस, चोपे, खेते ये अल्लों या जाति-उपविभागों के नाम हैं। प्रायः प्रत्येक जाति या उपजाति में अपने मूल निकास की एक अनुश्रुति पायी जाती हैं। इन मूल स्थान नामों का यदि संग्रह किया जाय तो यह भी संभव है कि हम शतपथ में दिये हुए उन-उन नाम वाले गोत्रों की भी पहचान कर सकेगें। इस प्रकार के स्थान के नामों की सत्रह सूचियाँ संग्रहीत हैं। उदाहरण के लिए पक्षादिगण में हंसक स्थान

का नाम है जहाँ से हंसक गोत्र का विकास हुआ होगा। वैदिक काल में योनि संवन्ध और विद्या संवन्ध इन दो प्रकार के संबन्धों के आधार पर समाज का अधिकांश संगठन था। योनि संवन्ध गोत्रों के रूप में और विद्या संबन्ध चरणों के रूप में अपना-अपना जातीय संगठन वना रहे थे। इसी कारण जाति की परिभाषा में गोत्रों और चरणों इन सभी को सम्मिलित किया गया।

रक्त संबन्ध और विद्या संबन्धों के कारण छोटे-छोटे गिरोहो की अलग-अलग जातियाँ वन रही थीं। कुछ ऐसा लगता है कि जहाँ बेटे पोतों से फूलते-फलते, पृथक-पृथक सौ घर किसी एक ख्यात, गुट्ट या अल्ल के अर्न्तगत बढ़ जातें थे, वहीं उन कुटुम्वों से सदस्य समाज में अपने पृथक अस्तित्व का भान और स्मृति एक छोटी उपजाति या गोत्रावयव के रूप में कर लेते थे। महाभारत में कहा गया है कि सावित्री पुत्रों के सौ घराने थे।

''त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवान् जनयष्यिति।
ते चाऽपि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्र पौत्रिणः।।
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यतिन्तीह शाश्वताः।"
{वन पर्व 297/58-59}

इसी प्रकार मद्रों मे से सौ घराने अलग फूट कर मालव पुत्र नाम की अल्ल से पृथक विख्यात हुए। मालव पुत्र ही वर्तमान मलोत्रे हो सकते हैं। उपजातियाँ या अल्लें कुछ तो कौटुम्बिक नामों से, कुछ पैतृक नामों अर्थात् खानदानों के बुजुर्गों के नामों से, कुछ व्यापारिक नामों से, कुछ शहरों के नामों से, कुछ पेशों के नामों से, और कुछ पदों के नामों के अनुसार वनती गई। हमारी दृष्टि में जाति-पाँति संबन्धी शतपथीय सामग्री की पहचान स्वतन्त्र खोज का विषय है क्योंकि अधिकांश उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और वार्हीक की स्थानीय समाज व्यवस्था से संबन्ध रखता हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों मे आर्थ जाति के प्रसिद्ध चार विभागों का वर्णन मिलता है-

शतपथ ब्राह्मण 5/5/4/9।। में कहा गया है-

"चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः।"

अर्थात वर्ण चार ही हैं, ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र।

इसी प्रकार से मैत्रीयणी संहिता 4/4/6 में भी उल्लेख आया है कि-

"चत्वारो वै पुरूषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः।"

अर्थात चार प्रकार के ही मनुष्य है ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्णो को इस प्रकार उल्लिखित किया जाता है।

(क) ब्राह्मण

ये ब्राह्मण ही हैं, जो मनुष्य देव हैं। षंडविंश ब्राह्मण 1/1।। मे लिखा है-

"अर्थ है ते मनुष्य देवा ये ब्राह्मणः। अर्थात यही मनुष्यों मे देव हैं जो ब्राह्मण हैं।"

अर्थात् ब्राह्मण को बहुत विद्वान होना चाहिए।

तैतरीय ब्राह्मण 2/7/3/1 में कहा गया है-

"अग्ने वै ब्राह्मणः"

अर्थात् अग्नि के गुणों से ही विभूषित ब्राह्मण है। वे ज्ञानवान तेजोमय आदि हैं। ब्राह्मण के अवश्य की सब संस्कार होने चाहिए, इस विषय में कहा गया है-

"ए षह वै सान्तनोऽग्निर्यद् ब्राम्हणों यस्य गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्ण, निष्क्रमण-अन्नप्राशन-गोदान, चूड़ाकरण, उपनयन, आप्लावन, अग्निहोत्र, व्रतचर्यादीनी कृतानि भवन्ति स सान्तपनः।"

अर्थात् यह सान्तपन अग्नि ही है, जो ब्राह्मण है जिसके गर्भाधान से लेकर व्रतचर्यादि संस्कार किये गये हैं यह सान्तपन हैं।

मनुष्यों मे ब्राह्मण क्यों श्रेष्ठ माना गया है, इस विषय में शत्पथ ब्राह्मण 5/1/5/2। में कहा गया है कि-

"ब्रम्हा कि ब्राम्हणः" अर्थात् वेद ही ब्राह्मण है वेद आर्य जाति का सबसे बड़ा कोश है। उस कोष की जो कोई रक्षा करता था वह आर्यों के लिए अत्यन्त मान्य होता था।

ब्राह्मण वेद को कष्ठस्थ रखता था, वेद को पढ़ाता था, इसलिए ब्राह्मण की मान्य दृष्टि से वेद कहा गया है।

ब्राह्मण को कभी भी सुरा नहीं पीनी चाहिए। इसका भाव यही है कि ब्राह्मण को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो। इसी भाव से शत्पथ में इसी प्रकार कहा गया है-

"अशिव इव वाऽएष भक्षो यत्सुरा ब्राम्हणस्य"
{शतपथ ब्राह्मण - 12/8/9/5।}

अर्थात् अकल्याणकारी के समान यह भोजन है जो सुरा है ब्राह्मण का।

दीक्षित होते हुए क्षत्रिय और वैश्य भी कुछ काल तक के लिए ब्राह्मण अर्थात् सौम्य स्वभाव वाले सत्य वक्ता तपस्वी बनते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है-

"स (क्षत्रियः) ह दीक्षमीण एव ब्राम्हणतामभ्युपैति"
ऐ0 ब्रा0 - 7/23। में

अर्थात वह क्षत्रिय ही दीक्षित होकर ब्राम्हण पन को प्राप्त करता है।

"तस्यादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राम्हण इत्येव ब्रूयाद ब्राम्हणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।"

अर्थात् इसीलिए (दीक्षित) क्षत्रिय अथवा वैश्य हो उसे ब्राम्हण ही कहें। ब्राम्हण ही उत्पन्न होता है जो यज्ञ से उत्पन्न होता है।

"य उ वै कश्च यजते ब्राम्हणी भूयेवैवयजते।"
{शतपथ ब्राह्मण - 12/8/9/5।}

अर्थात् जो कोई ही यज्ञ करता है, ब्राम्हण होकर यज्ञ करता है।

ब्राह्मण अपना समय गाने बजाने में कभी नष्ट न करें। हां वेद को स्वर सहित पढ़ना तो उनका धर्म ही है। यथा-

" ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत्।"

अर्थात् ब्राह्मण न गाये न नाचे।

ब्राह्मण को ब्रम्हावर्चसी- वेद के तेज वाला बनना चाहिए-

"ततह्येव ब्राम्हणेनैष्टव्यं यद ब्रम्हावर्चसी स्यादिति।"

अर्थात् यह ही ब्राम्हण को इष्ट होना चाहिए, जो ब्रम्हावर्चसी होवें।

ब्राह्मणों मे विद्वान ही वलवान हैं क्योंकि कहा गया है-

"यो वै ब्राम्हणानामनुचनतमः स ए षां वार्यक्तमः।"

अर्थात जो ही ब्राह्मणों मे परम् विद्वान हैं, वह इनमें अत्यन्त बलवान हैं बलवान ब्राह्मण के कौन-कौन से शस्त्र हैं-

"एतानि वै ब्राह्मण आयधानि यद्यज्ञायुधानि।"

अर्थात् यही ब्रम्हा- सौम्यशक्ति के शस्त्र हैं जो यज्ञ के शस्त्र हैं।

"तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वर्चङ्ग.रोति मुखतो हि सृष्टः।"
ता0 ब्रा0 - 6/1/6

अर्थात् इसलिए ब्राह्मण मुख से अपना बल दिखाता है। मुख अर्थात् मुख्य गुणों से ही उत्पन्न हुआ हैं, ज्ञान ही मुख्य गुण है।

पूर्वोक्त विद्या आदि गुण युक्त ब्राह्मण ही सर्वत्र सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

शतपथ् में ब्राह्मण और ब्राह्मण दोनों को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। अनुपूर्वी क्रम से चारों वर्णो के लिए ब्राह्मण क्षत्रियविट शूद्रः। यह समस्त पद प्रयुक्त होता था। ब्रह्मण इस अर्थ में ब्रह्मण्य पद बनता था। पतंजलि ने इसका अर्थ "ब्रह्मणेश्यः हितम्" किया है उनका कहना है कि ब्रह्मन और ब्राह्मण पर्यायवाची शव्द हैं।

"समानार्थवेतौ ब्रह्मन्शव्दों ब्राह्मण शब्दश्च।"

ज्ञात होता है कि शतपथ काल में ब्रह्मन् शब्द ब्रह्मणोचित अध्यात्मिक गुण सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आश्रित जाति के लिए। ब्राह्मण के भाव (आदर्श) और कर्म (आचार) के लिए ब्राह्मण्य पद सिद्ध किया गया है।

नाम मात्र के आचारहीन ब्राह्मण ब्रह्मबन्धु कहलाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद, आदि ग्रन्थों में ब्रह्मबन्धु शब्द पाया जाता है। ब्रह्मबन्धु पद के पीछे कुत्सा परक व्यंग्य की कई कोटियॉं थीं। बैदिक काल में केवल जाति का अभिमान करने वाले कर्मविहीन ब्राह्मणों के लिए ब्रह्मबन्धु की तरह ब्राह्मण जातीय यह नया विशे-ण भी प्रचलित हो गया था।

जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ।

"येन ब्रह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यते तद् वन्धु द्रव्यम्"

नाम मात्र के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय जातीय, वैश्य जातीय पद व्यवहार में आते थे। स्वधर्म में प्रतीत ब्राह्मण महाब्रह्म या महाब्रह्मा और आचारहीन ब्राह्मण कुब्रह्म या कुब्रह्मा कहलाता था। महाब्रह्मा समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठा-सूचक पद माना जाता था। मातंग जातक में महाब्रह्मा से सम्मानित पद का उल्लेख आया है।

तात्पर्य यह है कि धर्म और शील परायण और ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च पद महाब्रह्मा था, जिसके लिए व्यक्ति-विशेष योग्य पात्र समझे जाते थे। संभवतः महाब्रह्मा का पर्याय देवब्रह्मा भी था। नारद को जातक में महब्रह्मा और काशिका में देवब्रह्मा कहा गया है।

जनपदों के अनुसार ब्राह्मणों के नाम -

भिन्न-भिन्न देशों में बस जाने के कारण ब्राह्मणों के अलग-अलग नामों की प्रथा चल पड़ी थी। कंबोज जनपद से लेकर कलिंग-अश्मक-कच्छ सौवीर जनपदों तक फैले हुए विस्तृत प्रदेश में ब्राह्मण फैल चुके थे। स्वभावतः पृथक-पृथक् भूखण्डों के अनुसार उनके अलग नाम भी पड़े होगें। काशिका मे सुराष्ट्र ब्रह्म (सुराष्ट्र-ब्रह्मा) और अवन्ति ब्रह्मा (अवन्तिषु ब्रह्मा) ये दो उदाहरण हैं।

अवन्ति ब्रह्म मालव ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती थे, क्योंकि उज्जयिनी के साथ मालव शब्द का सम्बन्ध गुप्त काल के लगभग आरम्भ हुआ। इसी प्रकार गुजराती और कच्छी ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती सुराष्ट्र के ब्राह्मणों के पंचगौड़ और पंचद्राविड़ दो मुख्य भेद कालान्तर में प्रसिद्ध हुए। मूलभूत तथ्य यह है कि जनपदों के अनुसार ब्राह्मणों के नामों की प्रवृत्ति शतपथ काल में ही विकसित होने लगी थी।

(ख) क्षत्रिय

शतपथ काल में उस स्थिति को स्वीकार किया गया है कि अनेक जनपदों के नाम वही थे, जो उनमें बसने वाले क्षत्रियों के थे। जैसा कि पंचाल क्षत्रियजन के बसने के कारण ही आरम्भ में जनपद का नाम भी पंचाल पड़ा था। बाद में जनपद नाम की प्रधानता हुई और जनपद के नाम से वहॉ के प्रशासक क्षत्रियों के नाम आज भी प्रसिद्ध हैं।

पहली स्थिति के कुछ अवशेष आज तक बच गये हैं, जैसे- यौधेयों (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहिया बार (बहावलपुर रियासत), मालवों का (वर्तमान मलवई लोगों का), मालवा (फिरोजपुर लुधियाना जिलों का भाग), दरदू क्षत्रियों का दरदिस्तान। यों तो तत्कालीन संघों और जनपदों में क्षत्रिय के अतिरिक्त और वर्णों के लोग भी थे। उदाहरणार्थ- मालव

जनपद के क्षत्रिय मालव तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रियेतर मालब्य कहलाते थे। "मालवाः" इस बहवचनान्त रूप में सब का अर्न्तभाव समझा जाता था।

राजन्य शब्द के दो अर्थ प्राप्त हुए हैं, पहला तो क्षत्रियवाची पुराना अर्थ, और दूसरा अभिषिक्त वंश क्षत्रियों के लिए। केवल वे क्षत्रिय-कुल राजन्य कहे जाते थे जो संघ रूप में शासन में भाग लेने के अधिकारी थे। राजन्यक का हिन्दी रूप राणा है।

ऐतरेय ब्राह्मण 8। 6। में लिखा है-

"क्षत्रं राजन्यः" अर्थात् बलरूप ही क्षत्रिय हैं।"

ऐतरेय ब्राह्मण 7। 22 में लिखा है-

"क्षत्रं कि राष्ट्रम" अर्थात् बलरूप का ही अस्तित्व ही राज्य है, बलहीन जातियाँ राष्ट्र को ठीक नहीं रख सकतीं।

(1) क्षत्रियों की सम्पत्ति

गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग 6। 7। में लिखा है- "तस्मादु क्षत्रियों भूयिष्ठं हि- पशूनामीष्ठे।" अर्थात् इसलिए क्षत्रिय सबसे अधिक पशुओं का स्वामी होता है। इससे प्रकट होता है कि राजाओं के पास सहस्रों घोड़ों गौ आदि होने चाहिये।

(2) क्षत्रिय और ब्राह्मणों का सम्बन्ध

ऐतरेय ब्राह्मण 8।9 में लिखा है-

"तद्यत्र ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति-तद्राष्ट समृद्धं तद्वीरवादास्मिन वीरो जायते।"

अर्थात जहाँ-जहाँ ज्ञानशक्ति के आश्रय बल शक्ति काम करती है वहीं राष्ट्र सम्पत्ति शाली होता है। वही राष्ट्र बीरों वाला होता है। इसी राष्ट्र में वीर शक्तिशाली पुरूष उत्पन्न होता है।

इस कथन से स्पष्ट उपदेश किया गया है कि क्षत्रियों को विद्वानों के अधीन रहकर ही राज्य प्रबन्ध करना चाहिए। वेदादि शास्त्रों में अनेक स्थानों पर कहा गया है कि संसार के कल्याण के लिए भुजबल और ज्ञानबल को मिलकर काम करना चाहिए। जो आधुनिक ग्रन्थकार पुराने आर्यो को ब्राह्मणों के आधिपत्य के नीचे दबा हुआ समझते हैं।

उन्होंने आर्य जाति के भाव को नहीं समझा। आर्य लोग विद्या बल को सब बलों से श्रेष्ठ मानते थे।

ब्राह्मणों मे वह बल पूर्ण रूप में पाया जाता है। ऐसा अनेक प्रमाणो द्वारा प्रकट किया जा चुका है। इसलिए क्षात्र बल को ब्राह्मणों के साथ मिलकर की काम करना चाहिए।

"यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयान मित्रेभ्योवैस बलयान्भवति।"
शतपथ ब्राह्मण- 5/4/4/15

अर्थात् जो राजा ब्राह्मण से निर्बल है अर्थात् जिसके पास विद्धान ब्राह्मण नहीं है, वह शत्रुओं से बलवाला होता है। अर्थात् विद्धान ब्राह्मणों के मन्त्री आदि पदों को सुशोभित न करने पर राजा के शत्रु बढ़ जाते हैं।

"तन्तदवक्लृप्तमेव। यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद्यद्यु राजानं लभेत् समृद्धं तदेतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं। यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति यद्धं किं च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्राह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृध्यते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः स हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्मऽर्ध्यते।।"
शतपथ ब्राह्मण- 4/1/4/6।।

अर्थात् तब वह युक्त ही है कि मनुष्य ब्राह्मण राजा के बिना ही हो। यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त करे यह दोनों ब्राह्मण और राजा या क्षत्रिय के लिए कल्याणकारी होता है। यह सर्वथा अयुक्त है कि क्षत्रिय = राजा ब्राह्मण के बिना हो। क्योंकि जो कर्म वह करता है, ब्रह्म और मित्र से अप्रसूत नहीं, वह इसके लिए समृद्धि युक्त होता है। इसलिए जब क्षत्रिय कोई साहसिक कार्य करने लगे तो ब्राह्मण के समीप जावे। क्योंकि ब्राह्मण से बताये हुए कर्म में वह सफल होता हैं।

जो सौम्य गुण युक्त निष्कपट विद्धान सात्विक स्वभाव वाला व्यक्ति है उसे राजा की कोई आवश्कता नहीं होती। प्रथम तो उसके शत्रु होते ही नहीं, और यदि होते हैं तो उन्हें सच्चा ब्राह्मण अपनी वाणी से परास्त कर देता है। क्षत्रिय को वस्तुतः पदे-पदे ब्राह्मण की बड़ी आवश्कता है। ठीक सम्मति से खत्रिय सफल हो जाता है। चन्द्रगुप्त, एक ब्राम्हण की सम्मत्ति से ही कितना महान बन गया। अतः ब्राह्मण सम्मति इसलिए आवश्यक है क्योंकि ब्राह्मण राजनीति के वास्तविक तत्व को बताता है।

(3) क्षत्रिय के शस्त्र

"एतानि क्षत्रस्यायुधानि यदश्वरथः कवच इषुधन्वः।"
{ऐतरेय ब्राह्मण - 7/19/मं}

अर्थात् यही क्षात्र बल के शस्त्र हैं, जो घोड़ा, रथ, कवच, तीर और धनुष। पुनः शतपथ ब्राह्मण में लिखा है-

"युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम"
{शतपथ ब्राह्मण 13/1/5/6}

अर्थात युद्ध की क्षत्रिय का वल है।

(4) राजा

शतपथ ब्राह्मण में राजा के लिए लिखा गया है-

"तस्माद्राजा बाहुबली भावुकः।"
{शतपथ ब्राह्मण 13/2/2/5}

अर्थात बाहुवल से युक्त राजा सर्वप्रिय होता है।

पुनः शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-

"तस्माद्राजोरूवली भावुकः।"
{शतपथ ब्राह्मण 13/2/2/28}

अर्थात् इसलिए जंघा से बलवान राजा सर्वप्रिय होता है।

तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार-

"नाऽराजकस्य युद्धमस्ति"
{तै0 ब्रा0 1/5/9/1}

अर्थात जिस देश में अराजकता है वह देश किसी से युद्ध नहीं कर सकता। जिस देश के लोग परस्पर लड़ते झगड़ते रहते हैं, जहाँ कोई नियम नहीं वहाँ ऐसी ही दशा होती है।

(5) राजा का युद्ध प्रस्थान

"तद्यथा महाराजः पुरस्तात्सैनार्नीकानि प्रत्युह्याभयं पन्थनमन्वितयात्।।"

अर्थात जिस प्रकार एक वड़ा राजा सवसे आगे सेना के अग्रभाग को करके निर्भय को कर मार्ग को तय करता है, इससे ज्ञात होता है कि क्षत्रिय सम्राट युद्ध मे जाने समय सेना के अग्रभाग को आगे रखते हैं।

(ग) वैश्य

वैश्य काल में वैश्य के लिए 'अर्यं पद का उल्लेख आया है। गृहस्थ के लिए गृहपति शब्द है। मौर्य शुंग युग में गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था, जो बौद्ध प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे। उन्हीं से वैश्य प्रसिद्ध हुए।

वैश्यों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में कम मिलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्यों के लिए कहा गया है कि-

"राष्ट्राणि वै विशः"
{ऐ0 ब्रा0- 8/26}

अर्थात् वैश्य ही राष्ट्र है वैश्य के धन कमाने पर ही राज्य में सव वर्णों का काम चलता है।

(घ) शूद्र

वैदिक काल में दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया जाता है- पहला अनिखसित जो हिन्दू समाज के अंग थे, और दूसरे निखसित। पंतजलि का विशद भाष्य शूद्रों की शुंग कालीन स्थिति का परिचायक है।

"अनिखसितं शूद्र वे हैं जो आर्यावर्त की भौगोलिक सीमा के भीतर रहते हैं।" इसके विपरीत पतंजलि ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर के शूद्रों में कुछ विदेशियों का उल्लेख किया है। जैसे शक और यवन। पतंजलि के समय की ऐतिहासिक स्थिति में शक लोग इरान और अफगानिस्तान की सीमा पर शक स्थान में जमा थे, और यवन अर्थात् यूनानी लोग बाल्हीक और गांधार में प्रतिष्ठित थे। इसी पर आधारित पतंजलि का दूसरा उदाहरण "किष्किन्धागब्दिकं" है।

किष्किन्धा गोरखपुर जिले का खुखुन्दो और गव्दिका चंबा का गद्दी प्रदेश था। ये दोनों उस समय आर्यावर्त की सीमा से बाहर माने जाते थे। मौर्य साम्राज्य की कमर टूट जाने पर विदेशियो के धक्के से आर्यावर्त की सीमायें यहाँ तक सिकुड़ गयीं कि घर के दुआरे पर स्थित किष्किन्धा गव्दिका भी बाहर गिने जाने लगे। पतंजलि के अनुसार मृतप, चाडाल आदि निम्न शूद्र जातियाँ प्रायः ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य जातियों में घर बनाकर रहती थीं।

पर जहाँ गाँव और शहर बहुत बड़े थे, वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लो में रहने लगे थे। ये समाज में सबसे नीची कोटि के शूद्र थे। इनसे ऊपर बढ़ई, लोहार, बुनकर, धोबी, तक्षा, अयस्कर, तन्तुवाय, रजक आदि जातियों की गणना भी शूद्रों में थी। वे यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्यो में सम्मिलित हो सकते थे, पर उनके साथ खाने के बर्तनों की छुआछूत बर्ती जाती थी। इनसे भी ऊँची कोटि के शूद्र वे थे जो आर्यो के घर का नेवला होने पर उन्हीं बर्तनों में खा-पी सकते थे, जिनमें कि घर के लोग खाते-पीते थे। वस्तुतः आर्य और शूद्र की समस्या आर्य एवं मुंडा निषाद-शबर आदि जातियों को एक सामाजिक तंत्र के अन्तर्गत लाने की समस्या थी। दूसरी ओर शक-यवन सदृश विदेशी शूद्रों को भी भारतीय समाज में सीन देने की समस्या थी। पतंजलि के ऊपर लिखे हुए उदाहरणों से समस्या के दोनों पहलू सामने आते हैं। एक तीसरे प्रकार के वे लोग थे जो लूट मारकर जीविका चलाने वाले लगभग जंगली हालात में आर्यावर्त की सीमाओं पर प्राचीन काल से बसे थे। ऐसे उत्सेधजीवी लोग बैदिक काल में ब्रात कहलाते थे। ये विशेष करके भारत के उत्तर-पश्चिम इबाइली इलाकों में थे। ये लोग हिन्दू समाज की ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य व्यवस्था से बाहर ही माने जाते थे।

ज्ञात होता है कि अथर्ववेद और श्रोत सूत्रों में ब्रात्यों का जो वर्णन है वह इन्ही में चरित्रार्थ होता है। चातुर्वर्ण्य संगठन के अनुसार ब्रात्यों की स्थिति ब्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् मानी जाती थी।

आर्य और दास

वैदिक युग में आर्य ब्राह्मण और आर्य कुमार शब्द आए हैं। आर्य ब्राह्मण पद मन्त्रिपरिषद के प्रधान मन्त्री के लिए एवं आर्य कुमार पद युवराज के लिए प्रयुक्त होता था। राजा और उनके प्रधान सहायक का जो ब्राह्मण मंत्री होती था, वही आर्य ब्राह्मण कहलाता था।

अर्थशास्त्र के दास-कल्प प्रकरण में कौटिल्य ने स्वतंत्र नागरिक के लिए आर्य और उसके विपरीत अर्थ में दास का प्रयोग किया है, जैसे-

"दासमुनरूपेण निष्क्रयेण आर्यकुर्वतो द्वादशपणं दण्डः।"

अर्थात् छुटकारे का रूपया लेकर भी जो दास को आर्य न करे उस पर 12 पण जुर्माना किया जाय। इस वाक्य में आर्य शब्द के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है जो आर्यकृत में भी है।

'दास्याभारः' अर्थात् भार जो स्वामी को दासी के कारण सहना पड़े। इसकी व्याख्या कौटिल्य के इस आदेश से प्राप्त है कि गर्भवती दासी को उसके प्रसूति काल के लिए अर्थ व्यवस्था किये बिना जो बेंचे या गिरवी रखे उसे दण्ड दिया जाय।

"दासीं वा सगर्भामप्रतिविहितगर्भभर्मण्यां विक्रयाधानं नयतः पूर्वः साहसदण्डः।"
{अर्थशास्त्र-3/13}

इस प्रकार दासी के लिए अनिवार्य रूप से करने योग्य आर्थिक प्रवन्ध 'दासीभार' पद से अभिप्रेत था।

मिश्रवर्ण

वैदिक काल में अनुलोम -प्रतिलोम शब्द प्रचिलित हो चुके थे। मिश्रित वर्णों में अम्बपढ़ का नाम आया है। स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की संतान अम्बष्ठ कहलाती थी।

कात्यायन में 'महाशूद्र' नामक जाति विशेष का उल्लेख किया गया है। कशिका के अनुसार यह आभीर जाति की संज्ञा थी। आभीर महाशूद्र क्यों कहलाए। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठीूमि इस प्रकार ज्ञात होती है। शक-यवनों की तरह ही जो पतंजलि के समय में शूद्रों में गिने गये। विदेश में आने वाली आभीर जाति भी उसी प्रकार शूद्रों में परिगणित हुई किन्तु सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से उनका पद ऊंचा समझा गया। अतः वे महाशूद्र (ऊंचे शूद्र) कहलाये। इस पद में शूद्र पद से सामान्य शूद्र और आभीर पद से विशेष प्रकार के शूद्रों का ग्रहण किया गया है। उत्तरी सिंध के पूर्वी भागों में शूद्र और उसके पास ही आभारों का बड़ा राज्य था।

प्राचीन शास्त्रों में शूद्र की बड़ी निन्दा पायी जाती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आर्य लोग शूद्रों के विरोधी थे। आर्य सभ्यता में शूद्र उसी को कहा गया है जो यत्न किये जाने पर भी पढ़ लिख न सके, मूर्ख का मूर्ख की बना रहे। वह संसार में किसी प्रकार भी उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्तियों का कार्य तो दूसरों की सेवा और उदरपूर्ति ही है। इसीलिए ब्राह्मण कहता है-

अर्थात् इसलिए पाओं को धोता हुआ अधिक वृद्धि को प्राप्त नहीं होना, क्योकि शूद्र पावों से उत्पन्न हुआ है।

जो अज्ञानी है वह श्रम से ही अपना जीवन निर्वाह कर सकता है। इसीलिए ब्राह्मण कहता है-

(1) "तपो वै शूद्रः।" श0प0ब्रा0- 13/6/2/10

(2) "असुर्य्यः शूद्रः।" तै0सं0- 1/2/6/7

अर्थात् श्रम रूप ही शूद्र है, ज्ञानहीन ही शूद्र है।

ऐसे मूर्ख के समीप वेद पढ़ना निरर्थक है। इसलिए ब्राह्मण कहता है-

"पशु ह वा एतच्छमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतब्यम्"।।

अर्थात् पॉव वाला चलता फिरता ही यह श्मसान है जो शूद्र है। इसलिए जिस प्रकार श्मसान में स्वाध्याय वर्जित है वैसे ही शूद्र के समीप पढ़ना नहीं चाहिये।

इसका भाव यही था कि शूद्र को वेद का उपदेश सुनाने का कोई लाभ नहीं है। मध्यकाल के तंग दिल के लोगों ने यह ही समझ लिया कि यदि वेद पढ़ने वाले के पास से भी कोई शूद्र निकल जाए, तो शूद्र को दण्ड देना चाहिए, यह भाव नवीन स्मृतिकारों का है। वैदिक ग्रन्थकारों का नहीं।

अज्ञानी होने से ही शूद्र का यज्ञ में अधिकार नहीं है इसीलिए तैतरीय संहिता में कहा गया है कि-

"तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः।"
तै0सं0- 71/1/6

इसीलिए शूद्र यज्ञ में ठीक नहीं समझा गया। यही चारों वर्ण थे जो आर्य जाति के अंग थे।

(ङ) आश्रम

चारों आश्रमों के लिए कात्यायन ने "चतुराश्रम्य" पद दिया है। उनके नाम इस प्रकार हैं- ब्रह्मचारी, गृहपति, भिक्षु तथा परिव्राजक। शतपथ काल में आश्रम प्रणाली उन्नत दशा मे थी, विशेषतः ब्रह्मचर्य शिक्षा प्रणाली जिसका कुछ विस्तार से वर्णन इस प्रकार हुआ है।

ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी के लिए वर्णी यह नयी संज्ञा प्रयोग में आने लगी थी। जो संहिता और ब्राह्मण साहित्य में अविदित थी। काशिका के अनुसाद तीन उच्च वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे।

"ब्राह्मणादयस्त्रो वर्णा वर्णिन उच्चते"

एक ही चरण या वैदिक शिक्षण संस्था में अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे और इस नाते से वे आपस में सब्रह्मचारी कहलाते थे। उदाहरण के लिए कठ चरण में पड़ने वाले सब छात्र कठ सब्रह्मचारी कहे जाते थे। आज जिस प्रकार एक ही विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उपाधि के साथ शिक्षा संस्था का नाम लेकर समान संबन्ध प्रकट करते हैं, कुछ उसी प्रकार ही यह प्रथा थी। एक ही गुरू के शिष्य होने के कारण जो विद्या संबन्ध बनता था उसका जीवन में वास्तविक उपयोग और महत्व था। आचार्य ब्रह्मचारी को आत्म समीप लाकर उसका उपनयन संस्कार करते थे, जिसके फलस्वरूप एक ओर आचार्य और दूसरी ओर ब्रह्मचारी को संयुक्त करने वाले एक प्रकार के नये संबन्ध का जन्म होता था। छात्र दो प्रकार के थे, माणव और अन्तेवासी। छोटी अवस्था में सीखतर ब्रह्मचारी माणव होते थे। मातंग जातक में दण्डमाणवों को बाल कहा गया है। ब्रह्मचारी पलास का दण्ड या आसाढ़ और अनिज रखते थे।

ब्रह्मचर्य की अवधि

जितने दिन के लिए छात्र ब्रह्मचार्य वृत की दीक्षा लेते थे उस अवधि के अनुसार उनका नाम पड़ता था। वैदिक उदाहरणों से ज्ञात होता है कि पन्द्रह दिन "अर्धमसिकः ब्रह्मचारी" एक महीना "मासिकः" या एक वर्ष "सांवत्सरिकः" ब्रह्मचर्य का समय हो सकता था। वस्तुतः परिमित अवधि के लिए चरणों में प्रवृष्टि होकर अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों की ये संज्ञाएं थी। आधुनिक विश्वविद्यालयों के अल्पकालिक व्याख्यान प्रवन्ध या शार्ट-टर्म कोर्स के ढंग पर वैदिक चरणों में भी अध्ययन की सुविधाएँ मिलने वाली थी, तभी मासिक और अर्धमासिक ब्रह्मचारी जैसे प्रयोग अस्तित्व में आए होंगे। सब प्रकार के छोटे वड़े अध्ययन और ग्रन्थ-पारायणों में भाग लेने की विद्यार्थियों को छूट थी। किसी यज्ञ विशेष

की विधि जानने की इच्छा से, या विशेष साम-गान कण्ठ करने के लिए, या कुछ ऋचाओं का पारायण सीखने के लिए एक पखवाड़े या एक महीने जैसे थोड़े समय के लिए भी छात्र अध्ययन का नियम लेकर अर्धमासिक या मासिक ब्रह्मचारी बन सकते थे। अड़तालिस वर्ष तक ब्रम्हचर्य का व्रत लेने वाले छात्र "अष्टाचत्वारिंशक" या 'अष्टाचत्वारिर्शी कहलाते थे। वैदिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि गुरूकुलवास की यह अधिकतम अवधि थी। अड़तालिस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत आदित्य व्रत कहलाता था, जिसके धारण करने वाले ब्रह्मचारियों की संज्ञा आदित्यव्रतिक थी।

ब्रह्मचारियों के नाम करण के प्रसंग में कात्यायन ने कहा है कि व्रत के नाम से या अध्ययन के विषय के अनुसार विद्यार्थी का नाम पड़ता था। जैसे- महानाम्नी ऋचओं के अध्ययन का व्रत लेने वाल ब्रह्मचारी 'महानाम्निक' कहलाता था। महानाम्नी सामवेद की नौ ऋचाओं की संज्ञा थी जिन्हे शाकरी छनद में होने के कारण शाकरी भी कहा जाता था। गोभिलगृह्य सूत्र में रौरूकि ब्राह्मण के आधार पर लिखा है कि किसी समय माताएँ दूध पीते बच्चे के लोरी गान में कहा करती थीं-

हे पुत्र! तुम शाक्करी छन्दोमूलक महानाम्नी व्रत के परगामी बनो!

"अर्थाहि रौरूकि ब्राह्मणंभवति- कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्करीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति।"

{गोभिल गृह्य सूत्र- 3/2/7-9}

महानाम्नी पर्यनत सामवेद की समाप्ति के लिए 12, 9, 6 तथा 3 वर्ष की अवधि के विकल्प से चार प्रकार महानाम्निक व्रत होता था।

16 वर्ष की अवस्था में गोदान-विधि के साथ समाप्त होने वाले ब्रह्मचर्य काल के लिए यह विशेषण प्रयुक्त होता था।

पूर्व नियत उद्देश्य और परिमित काल के लिए शिक्षा की सुविधा का उल्लेख उपनिषदों में आता है। जहाँ जिज्ञासु कुछ समय के लिए आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हैं। विशेष उच्चशिक्षण के लिए और बढ़ी हुई ज्ञान पिपासा की तृप्ति के लिए इस प्रकार की व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी थी।

स्नातक

अध्ययन समाप्त होने पर ब्रह्मचारी आचार्य की अनुमति से स्नातक बनता था। वेदाध्ययन की समाप्ति पर स्नातक बनने का उचित समय समझा जाता था। विद्या विशेष

मे अतिशय प्रवीण स्नातक 'निष्णात' कहे जाते थे। पीछे चल कर यह शब्द कौशल के लिए प्रयुक्त होने लगा। 'स्रग्वी' पद भी संभवतः स्नातक के लिए ही प्रयुक्त होने लगा था।

स्रक ब्रह्मचर्य व्रत समाप्ति का विशेष चिन्ह थी। अकाल में व्रत छोड़कर गृहस्थ बन जाने वाले छात्रों का व्यंग्य से 'खटवारूढ' कहा जाता था। ब्रह्मचारी के लिए खाट का प्रयोग निसिद्ध होने के कारण 'खटवारूढ़' पद निरर्थक माना गया था।

गृहपति

विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिए प्राचीन काल में 'गृहपति' की संज्ञा दी गयी थी। विवाह के समय प्रज्वलित हुई अग्नि ग्राहपर्त्य कहलाती थी, क्योंकि गृहपति उससे संयुक्त रहता था। अग्नि-साक्षिक विवाह से आरम्भ होने वाले गृहस्थ जीवन में गृहपति लोग जिस अग्नि सूत्रों को गृह यज्ञों के द्वारा निरंतर प्रज्वलित रखते थे, उस अग्नि के लिए ही 'गृहपतिना संयुक्तः' यह विशेषण चरितार्थ होता है। विवाह के समय का अग्निहोम एक यज्ञ था। उस यज्ञ में पति के साथ विधि पूर्वक संयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की संज्ञा पत्नी होती थी।

पति-पत्नी दोनों मिलकर वैवाहिक अग्नि परिचर्या करते थे। गृह्य अग्नि में आहुत होने वाले अनेक स्थालीपाक उस समय किये जाते थे।

पुत्र पौत्रों से सुखी सम्पन्न पति-पत्नी सप्रज, बहुप्रज तथा पुत्रपौत्रीण कहलाते थे। घर या कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा बृद्ध या वंश्य कहलाता था। उसके जीवन काल में दूसरे लोग चाहे वे किसी भी आयु के हों, युवा कहलाते थे। कुटुम्ब के बृन्द्ध और युवा सदस्यों के नामों में भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का प्रयोग होता था। गर्ग कुल के बृद्ध या वंश्य की संज्ञा 'गार्ग्य' और उसी कुल के युवा सदस्यों की संज्ञा 'गार्ग्यायण' होती थी। गार्ग्य और गार्ग्यायण के भेद का सामाजिक मूल्य था। प्रत्येक कुल को अपनी बिरादरी, जाति या समाज की पंचायत में वास्तविक सत्ता प्राप्त थी। कुल का बड़ा बूढ़ा उसका उसका प्रतिनिधित्व करता था। गार्ग्य के जीवन काल में उस कुल की पगड़ी गार्ग्य के सिर की बांधी जाती थी और वही उस कुटुम्ब प्रतिनिधि माना जाता था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका सगा वड़ा बेटा जो कल तक गार्ग्यायण था, कुल के प्रतिनिधित्व का दृष्टि से गार्ग्य बन जाता था। इस परिवर्तन को उस बिरादरी के समस्त कुटुम्बों के प्रतिनिधि एकत्र होकर गार्ग्यायण के सिर पगड़ी बाँधकर स्वीकार करते थे, और उस दिन से उस कुटुम्ब के लिए वह गार्ग्य कहलाने लगता था। पगड़ी बाँधकर पट्टाभिषेक करने की यह प्रथा आज तक प्रचिलित है।

पिता के उपरान्त पुत्र उसके सीन पर अपने कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी होता था। किन्तु यदि कोई बड़ा-बूढ़ा, दादा, ताऊ या चाचा उस कुटुम्व में

जीवित हो तो अपने पिता की दृष्टि से जिस गार्ग्यायण ने गार्ग्य पद प्राप्त कर लिया था वह बड़े-बूढ़े, ताऊ-चाचा की दृष्टि से गार्ग्यायण ही कहलाता था।

विरादरी की पंचायत में प्रायः वड़ा-वृढ़ा, ताऊ-चाचा ही उस कुटुम्व का [illegible] करता रहता था। बड़े भाई के जीवित रहते हुए सव छोटे भाई 'युवा' कहलाते थे। वड़ा भाई गार्ग्य और छोटा भाई गार्ग्यायण संज्ञा के अधिकारी थे।

द्वितीय परिच्छेद

विवाह

विवाह के लिए उपनयन शब्द का प्रयोग वैदिक काल में किया गया है। पति के द्वारा पत्नी का पाणिग्रहण किये जाने पर विवाह संस्कार संपन्न समझा जाता था। पाणिग्रहण के द्वारा ही पति-पत्नी को अपनी बनाता था। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियों के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था। विवाह के सम्पन्न होने पर वर के द्वारा वधू के पाणिग्रहण का महत्व 'पाणिगृहीर्ती शब्द से प्रकट होता है। जो कात्यायन के अनुसार विधिवत् परिणीता पत्नी की संज्ञा थी। इसके विपरीत 'पाणिगृहीता' शब्द विधिवत् परिर्णीता स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था।

"यस्याःहि यथा कथञ्चित पाणिगृह्यते"

विवाह के फलस्वरूप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिन्दू धर्म शास्त्र का सुविदित नियम था। रोम देश के पुराने कानून के कौमार, यौवन और वार्धक्य किसी भी अवस्था में स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं माना जाता था, और पिता, पति या पुत्र की संरक्षकता अनिवार्यत अपेक्षित थी। "मेन" के अनुसार पुत्री के ऊपर पिता की संरक्षकता का यह कृत्रिम अभिवर्धन था।

वैसी ही स्थिति मनु के मानव धर्म शास्त्र में कही गयी है-

"पिता रक्षति कौमारे, भर्तारक्षित यौवने।
रक्षन्ति सीविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्रय मर्हति।।"

कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से विवाहित स्त्री का पति से पृथक कोई निजी तन्त्र प्राचीन धर्मशास्त्र में मान्य नहीं था, किन्तु दोनों अभिन्न या एकीकृत तंत्र समझा जाता था।

"यो भर्ता सा स्मृतांग्ना"
{मनु}

विवाह के समय पिता कन्या के सम्बन्ध में अपना स्वामित्च भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री को ग्रहण करता है, अर्थात् जो वस्तु अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाता था।

"अस्वं स्वं करोति"
{भाष्य- 1/3/56}

मनु के अनुसार कन्यादान का फल पति का स्वामित्व है-
{"प्रदानं स्वाम्य कारणम्"}
{मनु 5/152}

अर्थात् कन्या के अनुसार पिता का स्वाम्य (संरक्षकत्व) समाप्त हो कर पति में संक्रान्त हो जाता था। पति के द्वारा इस प्रकरण की मर्यादा का सूक्ष्म विचार मीमांसा-शास्त्र में किया गया है जहाँ सर्वस्वदक्षिण (जिसमें सब कुछ दक्षिणा में देना आवश्यक हो) विश्वजिन् नामक यज्ञ में पत्नी के ऊपर पति का अधिकार एक जीवित प्रश्न बनकर सामने आता था।

जिस कन्या से पुरूष विवाह करता था वह 'कुमारीं होती थी। पतञ्जलि ने कुमारी को अपूर्वपति कहा है। अनन्य पूर्विका कुमारी कन्या विवाहोपरान्त कौमारी आर्या और उसका पति कौमार पति इन प्रशस्त विशेषणों से अभिहित होते थे। विवाहित पति-पत्नी एक साथ यज्ञ आदि गृह कर्म में प्रयुक्त होते थे। पति के साथ यज्ञ संयुक्त होने के अधिकार से ही स्त्री को पत्नी का स्थान प्राप्त था।

स्वाभाविक पत्नी अपने पति की पद प्रतिष्ठा की भी अधिकारिणी बनती थी। पति के पदानुकूल पत्नी का नाम भी व्यवहार में आता था। जैसे महापात्र (एक उच्च राजकीय अधिकारी) की स्त्री महापात्री और गणक (अर्थ-विभाग का उच्च अधिकारी) की स्त्री गणकी कही जाती थी।

विवाह संबन्ध अपने गोत्र से बाहर करने की प्रथा थी। जैसा कि अब भी है। विवाह संबन्ध में जो दो गोत्र आपस में एक दूसरे के साथ बंधते थे, स्वभावतः उनके नामों का जोड़ा एक साथ बोला जाता था। इसके उदाहरणों में पतञ्जलि ने प्रसंगवश पॉच नामों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं-

(1) अत्रि-भरद्वाजिका
(2) वशिष्ठ-कश्यपिका
(3) भृग्वङ्गिरसिका
(4) कुशिकिका
(5) गर्गभार्गविका

अत्रि-भारद्वाज, वशिष्ठ-कश्यप आदि गोत्रों का पारस्परिक विवाह संवन्ध यहीं इस प्रकार के नामों के प्रयोग में हेतु था। यद्यपि कन्या का विवाह वड़ा जघन्य कार्य है, पर कहीं-कहीं यह प्रथा प्रचलित ही होगी। इस संदर्भ में ब्राम्ह्मण कहता है-

(1) "तस्माद्दुहितृमतेऽधिरथं शतं देयं, इतीह क्रयो विज्ञायते।"

अर्थात् इसलिए कन्या वाले के लिए सौ मुद्रा और रथ देना चाहिये। मैत्रीयर्णी संहिता में ऐसा ही भाव है।

(2) "अमृत वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति।"
मैत्रीयणी संहिता- 1/10/11

अर्थात् झूंठी बात भी वह करती है, जो पति से खरीदी हुई दूसरों के साथ संगति करती हैं।

रजस्वला स्त्री के संबन्ध में धर्मशास्त्रों में जो अनेक नियम वनाए गए हैं, उनका मूल वशिष्ठ धर्म सूत्र में किसी ब्राह्मण ग्रंन्थ ये दिया गया है।

(3) "विज्ञायते हि- तस्माद्रजस्वलाया अन्नं नाश्नीयात्।"
वाशिष्ठ धर्म सूत्र- 5/8/

अर्थात् ब्राम्ह्मण में कहा गया है- इसलिए रजस्वला स्त्री का (पकाया हुआ या छुआ हुआ) अन्न न खावें।

भातृहीना कन्या से विवाह अच्छा नहीं समझा जाता। इस विषय में निरूक्ति- 3। 5। का एक प्रमाण है। वह प्रमाण भाल्लवियों के ब्राम्ह्मण या संहिता से लिया गया है। ऐसी बालक्रीड़ा में विश्व रुप ने लिखा है।

(4) "नाभ्रात्रीमुपयच्छेत् तत्तोकं हास्य भवति, इति भाल्लविनां श्रुतेः।"

अर्थात् भातृहीना कन्या से विवाह न करें, उस कन्या का वालक कन्या के पिता के कुल में चला जाता है।

इसी विषय में वशिष्ठ धर्म सूत्र में एक और ब्राह्मण से पाठ लिया गया है।

(5) "विज्ञायते- अभ्रातृका पुसः पितृनभ्येति प्रतीचीनं गच्छति पुत्रत्वम्।।"

अर्थात् ब्राह्मण से जाना जाता है, भ्रातृहीना कन्या (अपने कुल के) पितरों को लौटाती है, लौटती हुई वह उनका पुत्र बनती है।

गृहस्थ में रहते हुए मनुष्य से अनेक पाप हो सकते हैं। पिछले जन्मों के पाप कर्मो और इस जन्म के पाप कर्मों का फल दुःख है। पाप क्या है? ईश्वरीय सृष्टि में जो ऋतरुप के स्थायी नियम चल रहे है उनको उलट-पुलट करने का यत्न करना और आत्मोन्नति में बाधा डालना पाप है, ईश्वरीय सृष्टि में मुख रूप से तेंतीस देवता काम कर रहे हैं। वे अग्नि, वायु, जल, सूर्य आदि हैं। जो अग्नि को अपने आराम के लिए तो प्रयोग करता है, परन्तु उसके स्वच्छ रखने का यत्न नहीं करता, जो वायु को दुर्गन्ध युक्त करता है, जो जल को अपवित्र करता है, जो सूर्य की रश्मियों को बिगाड़ता है, वह पाप कर रहा है।

जो पुरुष अनियम पूर्वक चलने से अपने शरीर के अन्दर भी इन देवताओं को गन्दा करता है वह पाप करता है। जो पुरुष ज्ञान में उन्नति नहीं करता है, अनृतवादी है। वह भी पाप कर रहा है, और भी अनेक पाप हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका उल्लेख पाया जाता है। उन सबको करने से पुरुष को दुःख होता है, वेदना होती है। उसके जीवन का सुख हट जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इन सब पापों से बचने का उपदेश है। यदि इनमें से कोई भूल हो भी गयी है तो भी ब्राह्मण कहता है कि ईश्वरीय सृष्टि में जिस-जिस नियम के तोड़ने से तुम्हें फल रूप में दुःख मिलता है, उनहे यदि स्वयं ठीक कर दो तो तुम्हें दुःख नहीं होंगे।

दुःखो को दूर करने का एकमात्र उपाय यज्ञ है। इस यज्ञ से सारी सृष्टि पा हमारा राज्य हो जाता है। हम अपनी भूलों को दूर करने का एक उपाय यज्ञ से ही करते हैं। अमावस्या को प्रकृति चन्द्रमा रूप में शक्ति नहीं देती और पूर्णिमा को प्रकृति से शक्ति लेने के लिए यज्ञ का विधान है।

पहले अपने भूलों अथवा पापों का कुछ वर्णन करके फिर यज्ञों का वर्णन किया जायेगा। वैसे तो पाप पुण्य प्राचीन धर्म सूत्रों और मानव धर्म शास्त्र में कहे गये वे सब ही ब्राह्मणों में मिलते होगें, परन्तु इस समय सब ब्राह्मण नहीं मिलते। इस समय तो क्या, सम्प्राप्त धर्म सूत्रों के संकलन काल में भी अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ नष्ट हो गये थे।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र में कहा गया है कि-

(6) "ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठा प्रयोगादनुमयन्ते।"

आ0 ध0 सू0- 1/4/12/10

अर्थात् धर्म शास्त्रोक्त विधियाँ ब्राह्मणों में कही गयी है। पर ऐसे प्रमाणों वाले ब्राह्मण नष्ट हो गये हैं।

इसलिए अब तो धर्म शास्त्रों के अनेक प्रयोग से ही उन पाठों का आस्तित्व अनुमान किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में सब पाप पुण्यों का वर्णन तो इन ब्राह्मणो मे मिल ही नहीं सकता।

किन्तु यह अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म शास्त्र के समान प्रवक्ता थे। यह आवश्यक नहीं कि पाप और पुण्य का विस्तृत विचार ब्राह्मणों में मिले। ब्राह्मण तो इस विषय को भी प्रसंगवतः ही कहते हैं। इसलिए समान दृष्टि से देखा जाय तो ब्राह्मण गन्थों में विवाह का प्रचुर मात्रा में अत्यधिक महत्व पूर्णवर्णन मिलता है।

तृतीय परिच्छेद

गृहस्थ में स्त्रियों की दशा

आधिदैविक तत्वों का वर्णन करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों का ही अधिकांश में कथन करते हैं। यज्ञो का करना गृहस्थों का ही काम है।

गृहस्थ आश्रम स्त्री पुरुष दोनों के मेल से चलता है। इसलिए सुखी गृहस्थ के लिए कैसी देवियाँ होनी चाहिए, स्त्रियों का क्या अधिकार है, इत्यादि विषयों पर जो ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है, उसका वर्णन इस प्रकार है।

(1) "एचमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृश्रोणिर्विमूष्टान्तरा सा मध्ये संग्राह्येति।"

अर्थात् इसी सूरत वाली स्त्री की प्रशंसा करते है। स्थूलाग्र जघना, कन्धों के बीच छाती के ऊपर का भाग श्रोणी की अपेक्षा कुछ तंग और मध्य में (कमर में) सिकुड़ी हुई हो।

(2) "पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति।।"

शतपथ ब्राह्मण- 3/5/1/11

अर्थात् पीछे से चौड़े जघन वाली मोटी श्रोणी वाली स्त्री की प्रशंसा करते हैं।

(3) "तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रियाः भावुका।"

शतपथ ब्राह्मण- 13/1/9/6

अर्थात् इसीलिए रूपवती स्त्री (युवती) मनुष्यों को प्यारी होने वाली होती है।

(4) "एतदु वै योषयै समृद्धं रूपं यत् सुकपर्द्दा-सुकपर्द्दा सुकरीरा स्वौपशा।।"

शतपथ ब्राह्मण- 6/5/1/10

अर्थात् स्त्री का यही समृद्ध रूप है, जो यह सुन्दर लम्बे केशों के जूड़ेवाली, सुन्दर माथ वाली और सुजघना है।

इन गुणों वाली स्त्री से पुरुष विवाह करें क्योंकि-

(5) "अयज्ञों वा एषः यो ऽपत्नीकः।"

तै0ब्रा0- 2/2/2/6

अर्थात् वह यज्ञ का अधिकारी नहीं हो सकता, जो पत्नी हीन है।

(6) "अर्थों अर्द्धो व एष आत्मनः। यत्पत्नी।"

तै0 ब्रा0- 3/3/3/5

अर्थात् यह शरीर का आधा भाग है, जो पत्नी है।

इसीलिए साधारण भाषा में भी स्त्री को अर्धांगी कहते हैं। प्राचीन काल से ही यह भाव आर्य जाति के हृदय में वना चला आ रहा है। आर्य स्त्रियों का ब्राह्मण काल में बड़ा सम्मान था। इस सम्बन्ध में कहा गया है-

(7) "श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः।"

तै0 ब्रा0- 2/9/4/7

अर्थात् ये पत्नियाँ साक्षात श्री (लक्ष्मी) का रुप हैं।

ब्राह्मणों में जहाँ स्त्री को कुछ नीची दृष्टि से देखा गया है, वहाँ गृहस्थ की दृष्टि से नही प्रत्युत ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का नियम पालन करने के लिए यज्ञ विशेषों में ही ऐसा किया गया है।

प्रवर्ग्य के वर्णन में शतपथ कहता है-

(8) "अनृतंस्त्री शूद्रः श्वा कृष्णाः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत्।"

शतपथ ब्राह्मण- 14/1/1/31

अर्थात् स्त्री, शूद्र, कुत्ता और काला पक्षी (कौआ) अनृत झूठ है इन्हें न देखें।

मैत्रीयणी संहिता में इसी भाव से कहा गया है कि-

(9) "त्रया व नैर्ऋता अक्षाः स्त्रियः स्वप्नः।"

मै0 सं0- 3/6/3

अर्थात् तीन निर्ऋति सम्बन्धी हैं। पांसा, स्त्रियां और स्वप्न।

स्त्रियों की प्रकृति के विषय में ब्राह्मण में एक ऐसी बात कही गयी है जो अभी तक संसार में सत्य सिद्ध हो रहा है।

(10) "तस्मादप्येतर्हि मोघसं हिता एव योपा। तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव।"

शतपथ ब्राह्मण- 3/2/4/6

अर्थात् इसीलिए आज तक स्त्रियां बातों की ओर जाती हैं। अतः जो नाचता है, जो गाता है, उसी को ये तत्काल चाहने वाली होती हैं।

(11) "तस्माद्गायन्तः स्त्रियः कामयन्ते।"

तै0 सं0- 6/1/6/44

(12) "तस्माद्गायन्स्त्रियाः।"

मै0सं0- 3/7/3

अर्थात् (गाथा को देवों गया और वेद का गन्धर्वों को छोड़ देवों के समीप चली गयी इसीलिए विवाह में गाथा गाते हैं।) इसलिए गायक स्त्री को प्रिय होता है।

यह बात सारे संसार में पायी जाती है। साणारण स्त्रियां गाने बजाने में ही अपना समय व्यतीत करती हैं, और गाने वालों को प्यार करती हैं।

साधारण स्त्रियों के काम करने के विषय में भी प्राचीन काल का एक दृश्य ब्राह्मण ग्रन्थ उपस्थित करता है।

(13) "तद्ध्यएतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रम्।"

श0 प0 ब्रा0- 12/7/2/11

अर्थात् यही स्त्री का कर्म है जो ऊन और सूत आदि काते।

जैसा हर काल में देखा जाता है अनेक स्त्रियां पतिव्रत धर्म का पालन नहीं करती। इसलिए वे कुलटा बन जाती हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ में वैदिक भाव को दर्शाते हुए स्त्री के पतिव्रत धर्म पर बल दिया गया है। स्त्री जिस मनुष्य की एक बार हो जावे, सदा उसी की बनकर रहे।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है।

(1) "स पत्नीमुदानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति वरुण्यंवा ऽएतत्स्त्री.
करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथोनेन्म ऽन्तःशल्या जुहवदिति।
तस्मात्पृच्छति निरुक्तंवा ऽएनः कनीयो भवति तस्माद्वेव,
पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यैतदहितं स्यात्।।"

अर्थात् (वह प्रतिप्रस्थता यजमान की) पत्नी को दूर ले जाने के समय पूंछता है किसके साथ तू संगति करती है। वरूण संवन्धी (पाप) वह स्त्री करती है। जो दूसरे की होती हुई, दूसरे के साथ संगति करती है। वह अपने मन में गुप्प पीड़ा रखती हुई हवि न दे, इसलिए पूछती है। "स्वीकार किया हुआ पाप थोड़ा रह जाता है। शतपथ ब्राह्मण में वरुण संबन्धी पाप के विषय में कहा गया है-

"वरूणो वा एतं गृहणाति यः पाप्माना गृहीतो भवति।"
शतपथ ब्राह्मण- 12/7/2/7

अर्थात् वरूण उसे ग्रहण करता है, जो पाप से गृहीत होती है।

वह सत्य ही हो जाता है। यही कारण है कि वह पूँछता है। वह स्त्री जो कुछ स्वीकार नहीं करती वह उसके संबन्धियों के लिए अहित होगा। (जिसको वह चाहती, वे दुःखी होंगें)

पति यदि गुपाहीन भी हो, तो भी स्त्री धर्म उसकी सेवा करना ही है। इस विषय में सुकन्या के आख्यान रूप में ब्राह्मण का वचन है।

(2) "सा (सुकन्या) हो वाच यस्मै मा पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति।"
शतपथ ब्राह्मण- 4/1/5/9

अर्थात् वह (सुकन्या अश्विद्वय को) वोली जिस मनुष्य के लिए मेरे पिता मे मुझे दे दिया उसके जीते जी मैं उसे नहीं छोडूंगी।

आचार्य विश्वरूप अपनी बालक्रीड़ा टीका के 1/96 में इसी वचन का अभिप्राय लिखते हुए कहता-

(3) "एवं च सत्याम्नाया अऽपि क्षत्रियविषया एव नैवाद्वं तं जीवन्तं हास्यामि, इत्यादि।"

अर्थात् यह वाक्य क्षत्रियों के नियोग विषय का माना जा सकता है। जीने में समर्थ पुरुष को स्त्री न त्यागे यह ब्राह्मण का अर्थ है।

(4) "पतयो ह्योव स्त्रियै प्रतिष्ठा।"

श0 प0 ब्रा0- 2/6/2/14

अर्थात् पति ही स्त्री के लिए प्रतिष्ठा है।

(5) "गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा।

श0 प0 ब्रा0- 3/3/1/10

अर्थात् घर में ठहरना ही पत्नी की प्रतिष्ठा है।

प्राचीन काल मे गार्गी आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ सभाओं में जाती थीं, पर साधारण स्त्रियाँ सभा में नहीं जाती थीं। प्राचीन काल में ऐसी प्रथा थी।

मैत्रीयणी संहिता में कहा गया है कि केवल पुरुषों को ही सभाओं मे जाने का अधिकार है।

(6) "तस्मात्पुमां सः सभां यन्ति न स्त्रियः।"

मै0 सं0- 4/7/4

अर्थात् पुरुष ही सभा आदि में जाते थे स्त्रियाँ नहीं।

वशिष्ठ धर्म सूत्र में काठक ब्राह्मण का यह पाठ अत्यन्त समीचीन दृष्टि गोचर हो रहा है। जिसमें स्त्रियों के विषय में कुछ शब्द दिये गये हैं।

(7) "अऽपिनः श्वो विजनिष्यमाणा· पतिभिः सह शयीरन्नित स्त्रीणांमिन्द्र दत्तो वर इति।।"

वा0 शि0 धर्म सूत्र- 12/34।।

अर्थात् (जो नराधम है, और किसी समय भी संयमी नही रह सकता, उसका कथन करके स्त्रियाँ इन्द्र से बोलीं) हममें से वे भी जो कल ही बच्चा जनने वाली है, पतियों के साथ सोवें। यह वर स्त्रियों को इन्द्र दे दिया।

प्राचीन काल से स्त्रियों के सम्मान में अनेक ग्रन्थों के माध्यम से मनीषियों ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। एक मनीषी ने तो नारी जाति के सम्मान में यहाँ तक कह दिया कि जहाँ पर नारियों का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं।

"यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।"

नारियों के बध के लिए तो हमें कोई शास्त्र आज्ञा नहीं देता। नारी वध अत्यन्त घृणित तथा निन्दर्नीय कर्म है जो मानव जाति के लिए वर्जित है।

इस विषय में शतपथ ब्राह्मण कहता है-

(8) "न वै स्त्रियं घ्नन्ति।"
शतपथ ब्राह्मण- 11/4/3/2

अर्थात् (प्रजापति देवताओं से बोला) स्त्री हत्या नहीं करना चाहिए।

स्त्री जाति तो किसी पर प्रहार नहीं करती इसके विषय में शतपथ कहता है-

(8) " न वै योषा कंचन हिनस्ति।"
श0 प0 ब्रा0- 6/3/1/39

अर्थात स्त्री किसी को नहीं मारती या किसी पर प्रहार नहीं करती।

शतपथ काल में स्त्रियों के जीवन के अनेकों क्षेत्रों का परिचय मिलता है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्या आदि दशाओं में उसके जीवन की कुछ झाँकी तत्कालीन भाषा के शब्दों में आ गई है। आयु के प्रथम भाग में वह कुमारी, किशोरी और कन्या कहलाती थी। कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रह जातीं थीं। वे बड़ी आयु होने पर भी कुमारी की कहलाती थी। जैसे, बृद्ध कुमारी, जरत्वकुमारी।

कन्यावस्था में ही अवैध सम्बन्ध से जो पुत्र उत्पन्न होता था, वह 'कानीन' कहलाता था। मनु ने बारह प्रकार के पुत्रों में कानीन भी कहा गया है। पतञ्जलि ने आपत्ति उठाई है कि यदि कन्या है तो पुत्र कैसा होगा, और पुत्र हो गया है तो कन्या कैसी? कन्या और पुत्र में आपस में विरुद्ध है। उन्होंने यह कह कर उसका समाधान किया है कि विवाह संबन्ध में बंध जाने के बाद पुरुष के साथ शरीर-संबन्ध होने पर स्त्री का कन्या कहलाना वन्द हो जाता है। किन्तु विवाह संबन्ध से पहले पुरुष के साथ जो शरीर संबन्ध सीापित कर लेती है उसके लिए भी लोक में कन्या शब्द चालू रहता है। जिसको लोग कन्या कहत या मानते रहें वही कन्या है।

विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कन्या 'वर्या' कहलाती थी। ज्ञात होता है कि वर्या कन्या थी जो बिना रोक-टोक बरी जा सके। काशिका में इसके दो उदाहरण है-

"शतेन वर्या" "सहस्रेण वर्या"। टीकाकारों ने ऐसा अर्थ किया है, कि जो सौ पुरुषो से अथव सहस्र पुरुषों से वरण के लिए उपलब्ध हो वह 'वर्या' है। पर ज्ञात है कि शत और सहस्र शब्द कर्पापण वाची है। सौ या हजार चाँदी के कर्पापण पिता को कन्या-शुल्क देने पर जिस कन्या को बिना रोक-टोक कोई भी वर सके उसके लिए 'वर्या' शव्द था। इसके विरुद्ध जिस कन्या के लिए इस प्रकार बेरोक-टोक मंगनी का अवसर न हो और जिसके लिए माता-पिता संवन्ध नियत करें उसकी संज्ञा वृत्या थी। वर्या शव्द नित्य स्त्रीलिंग था। पुल्लिंग अर्थो में इसी का उदाहरण 'वार्यात्रृत्विजः' काशिका ने दिया है, जिसका अर्थ होगा वे पुरोहित जिन्हे नियत शुल्क (दक्षिणा) देने पर कर्म के लिए चुना जा सके जो कन्या स्वयं अपना पति चुनती थी उसके लिए 'पतिवरा' शव्द था।

पत्नी-

वधू, जनी और उसकी या वर की भी सखियॉ जन्या कहलाती थीं। नव विवाहिता वधू के लिए लोक और वेद दोनों भाषाओं में समुंग्ली शव्द चलता था। विवाहिता स्त्री के लिए जाया, पत्नी और जानि शब्द प्रयुक्त होते थे।

युवती स्त्री और बृद्धा स्त्री का पति क्रमशः युवजानि और बृद्धजानि, कहलाता था। पति-पत्नी, जिसका पति जीवित हो, इस विशेष पद से ध्वनित होता है कि पति के जीवन काल में पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। सपत्नी शब्द बहु-विवाह की प्रथा का सूचक है।

"ऐसी बड़ी बहन पति का जिसका विवाह छोटी विवाह छोटी बहन के वाद हो 'दिघिषू' पति कहलाता था।"

प्राचीन काल में वशीकरण मन्त्रों का भी उल्लेख किया गया है, जिनका जप करके पुरुष स्त्री के हृदय को अपने वश में कर लेता था। ये मंत्र वैदिक थे, जो अथर्व वेद में संग्रहीत है। स्त्री-हृदय को बांधने वाले ये मन्त्र प्राचीन काल में 'हृद्य' कहलाते थे।

अच्छे शील वाली माता का पुत्र भद्र मातुर और रूपवती माता का कल्याणिनेय कहलाता था। पिता का गोत्र ज्ञात होने पर माता के गोत्र के अनुसार पुत्र का नाम पड़ता था, किन्तु इस प्रकार के नाम से कुछ निन्दा या हेठी (कुत्सन) सूचित होती थी।

उदाहरण के लिए गर्ग गोत्र में उत्पन्न गार्गी के पुत्र का नाम 'गार्गिक' हो सकता था, किन्तु वह गोत्र जनपद और वैदिक चरणों के नाम से स्त्रियों के नामकरण की प्रथा का वैदिक काल में पर्याप्त उल्लेख आया है। इससे स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का संकेत मिलता है। एक जनपद में उत्पन्न राजकुमारियॉ या स्त्रियॉ

विवाह के वाद जव दूसरे जनपद में जाती थीं तव पति गृह में वे अपने जनपदीय नाम से पुकारी जाती थीं।

राजस्थान के राजघरानों में प्रायः अभी तक यह प्रथा विद्यमान है, जैसे हाडौती या ढूँढ़ारी रानी महाभारत काल में प्रायः सव प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम "माद्री, कुन्ती, गांधारी" आदि इसी प्रकार के हैं।

अवन्ति जनपद के क्षत्रिय कन्या अवंती, कुन्ति जनपद या कौतवार देश की राज कुमारी कुंती, कुरू राष्ट की राजकुमारी कुरू, भर्ग जनपद की राजकुमारी भार्गी आदि।

पञ्चाली, वैदेही, आंगी, वांगी, मागधी, ये नाम प्राच्य देश के जनपदों की स्त्रियों के थे। वैदिक काल में यौधेय नामक गणराज्य की स्त्री के लिए "यौधेर्या" शव्द का उल्लेख आया है। भारत वर्ष के पूर्वी भागों में स्त्रियों के नाम में 'भायन' प्रत्यय का वहुधा प्रयोग होता था।

गर्ग गोत्र की स्त्री पूर्व में 'गार्ग्यायणी' और अन्यत्र "गार्गी" कहलाती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी स्त्रियों का सम्मानित स्थान था, यहाँ तक कि चरण संज्ञक वैदिक शिक्षा केन्द्रों में भी वे प्रविष्ट होकर अध्ययन करती थीं। जातिवाची स्त्रीनामों में गोत्र और चरणवाची नामों का ग्रहण सब आचार्यो ने माना है। कृष्ण यजुर्वेद की प्रसिद्ध शाखा का एक चरण कठ था। उसके संस्थापक आचार्य कठ सुप्रसिद्ध आचार्य वैशम्पायन के अन्तेवासी थे। कठ के चरण में विद्या अध्ययन करने वाली स्त्रियां कठी कहलाती थीं। इसी प्रकार वह्वृच नामक ऋग्वेद के चरण में अध्ययन करने वाली ब्रह्मचारिणी कन्याएँ वह्वृची संज्ञा की अधिकारिणी थीं। इससे ज्ञात होता है कि चरणों में जो मान मर्यादा छात्रों को होती थी, वही छात्राओं के लिए भी थी। अन्य उदाहरण सूचित करते हैं कि मीमांसा और व्याकरण जैसे जटिल विषयों का अध्ययन भी स्त्रियाँ करती थीं।

शिक्षा में प्रवीण माणविका के साथ विवाह करने वाला पति उसके कारण अपने आपको गौरवान्वित मान कर उसके नाम से अपना नामकरण करता था, जैसे-

"औपगवी माणविका भार्या अस्य औपगवी भार्यः।
गलुचुकायनी माणविका भार्या अस्य ग्लुचुकायनीभार्यः।"
{भाष्य- 4/1/93 वा0-9}

स्त्री चरणों के संस्थापक, सांग सरहस्य वेद का अध्ययन कराने वाले उपनयन कराने के अधिकारी महान आचार्य शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च पद के अधिकारी थे। उन्हीं की कोटि पर पहुँच कर अध्यापन कार्य कराने वाली विशिष्ट स्त्रियाँ आचार्या जैसे पद

की अधिकारिणी होती थीं। पुरुषों के समान सांग रहस्य वेद का अध्यापन कराने और माणविकाओं का उपनयन कराने का जिसे अधिकार हो वही आचार्या हो सकती थीं। शिक्षा की ऐसी उन्नत दशा में छात्राओं के लिए अलग आवास स्थानों का प्रबन्ध भी किया जाना आवश्यक था।

ज्ञानोपवर्जन की यह प्रवृत्ति कभी-कभी यहाँ तक बढ़ती कि स्त्रियाँ आयु पर्यनत अविवाहित रहकर नौष्ठिक भिक्षुणियों का जीवन व्यतीत करती थीं। यास्क ने परिब्राजक नामक आचार्यों का उल्लेख किया है जो संभवतः सन्यास धर्म के अनुयायी थे। गणपाठ का "कुमार प्रव्रजिता" शब्द उस सम्प्रदाय की नौष्ठिक व्रतचारिणी स्त्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।

श्रमण शब्द प्रायः ब्राह्मणेत्तर सन्यासियों के लिए प्रयुक्त होता था। अशोक के लेखो में "ब्राह्मण- श्रमण" यह पद बहुधा आता है। यहाँ श्रमण शब्द अवश्य ही बौद्ध भिक्षुओं के लिए है। कौमार अवस्था में सन्यास लेकर भिक्षुणी बनने की व्यवस्था बुद्ध ने स्त्रियों के लिए की थी। बुद्ध के समय में भिक्षुणी संघ नियमित संस्था बन गयी थी। कुमारी श्रमणा या कुमार श्रमणा पद का प्रयोग भाषा में भिक्षुणी संघ की सीपना के बाद ही चलने की अधिक संभावना थी।

चतुर्थ परिच्छेद

सामाजिक संस्थाऍं

इस शीर्षक के अर्न्तगत अनेक संस्थाऍं आती हैं, जो इस प्रकार हैं-

(1) जनपद।
(2) वर्ण और जाति।
(3) सगोत्र।
(4) सपिण्ड।
(5) सनाभि।
(6) ज्ञाति।
(7) संयुक्त।
(8) कुल।
(9) वंश।
(10) गृहपति।

(1) जनपद-

लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से लेकर शतपथ काल तक का समय जनपदों के विकास और अभ्युदय का युग था। इसीलिए भारतीय इतिहास में यह महाजनपद युग कहा जाता है। उस समय जनपद, चरण और गोत्र इन तीनों का बहुत महत्व था। सामाजिक जीवन में गोत्र, शिक्षा के क्षेत्र में चरण तथा राजनीतिक जीवन में जनपद इन तीन संस्थाओं की बहुमुखी प्रवृत्तियॉं थीं, और व्यक्ति के जीवन का इनसे घनिष्ठ संबन्ध था।

वैदिक युग में जन की सत्ता प्रधान थी। एक ही पूर्वज की वंश परम्परा में उत्पन्न कुलों का समुदाय जन कहलाता था।

शनैः-शनैः जन का अनियतवास समाप्त होने लगा और जन एक-एक स्थान में बद्धमूल हो गए। ऐसे प्रदेश या स्थान जनपद कहलाऍं। मूल जन के अर्न्तगत जो क्षत्रिय कुल सम्मिलित थे, जनपद में भी राजसत्ता प्रायः उन्हीं के हाथ में रही। राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे। जनपदों के राजनैतिक स्परूप और महत्व का पूर्ण परिचय आगे दिया जायेगा। यहॉं केवल इतना पर्याप्त है कि जनपदों में भी अनेक प्रकार के सामाजिक संबन्ध प्रचलित थे। एक जनपद के निवासी प्रायः एक ही भाषा या बोली बोलते थे। उनमें पारस्परिक भातृभाव का संबन्ध एवं समान देवताओं की मान्यता थी। एक जनपद

के लोग परस्पर सजनपद या समान जनपद के निवासी कहे जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति का एक अभिधान उसके जनपद के अनुसार ही पड़ता था, जैसे- अंग जनपद का निवासी आंगक कहलाता था।

प्रायः स्त्रियों के लिए भी ये विशेषण प्रयुक्त होते थे, जैसे भांर्गी, वांर्गी, मार्द्री, यौधेयी आदि स्त्रियाँ जब विवाहित होकर पतिकुल में पहुँचतीं, तो वहाँ उनकी जनपदीय अभिधा बनी रहती थीं। कुन्ती, माद्री, गान्धारी, कौशल्या और कैकेयी, ये सुप्रसिद्ध स्त्री नाम जनपद सम्बन्ध से ही थे।

इन राजसत्ता के अधिकारी लोगों को अभिषिक्तवंश्य भी कहते थे, क्योंकि केवल इन्हीं कुलों में उत्पन्न व्यक्ति को राजपद पर अभिषिक्त होने का अधिकार प्राप्त था।

(2) वर्ण और जातियाँ-

शतपथ में वर्ण, जाति और बन्धु ये तीन शब्द आये हैं, जिनमें वर्ण प्राचीन शब्द था। उसके स्थान पर जाति शब्द चलने लगा था। जो इस अर्थ में अपेक्षाकृत नवीन था। कात्यायन के श्रौत सूत्र में जाति का अर्थ केवल परिवार है। एक वर्ण में उत्पन्न हुए व्यक्ति परस्पर सवर्ण होते थे। जाति का एक-एक व्यक्ति बन्धु कहलाता था। जिन व्यक्तियों द्वारा पहिचानी जाती है, वे बन्धु कहलाते हैं। बन्धु शब्द में यह संकेत है कि एक जाति के सब सदस्य एक पूर्व पुरुष से उत्पन्न होने के कारण एक दूसरे से बंधे हैं। इस कारण सब जाति भाई आपस में समान बन्धु या सबन्धु कहे जाते थे।

(3) सगोत्र-

एक पुरखा के पोते पड़पोते आदि जितनी संतान होगी वह सगोत्र कही जायेगी।

"पौत्रप्रभृति यद् पत्यं तद्गोत्रसंज्ञं भवति।"

गोत्र प्रर्वतक मूल पुरुष को बृद्ध स्थविर या वंश भी कहते थे। उदाहरण के लिए मूल पुरुष का नाम गर्ग होता, तो उसका पुत्र गार्गि, पौत्र गार्ग्य और प्रपौत्र गार्ग्यायण कहलाता था।

किस परिवार में कौन गार्ग्य है और कौन गार्गायण है, इसका समाज में वास्तविक महत्व था। गौत्र नाम से अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत नाम भी होता था।

इसलिए महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्ति का परिचय पूंछते समय नाम और गोत्र दोनों के विषय में प्रश्न किया जाता था। वास्तविक बात यह थी कि गोत्रो की परम्परा प्राचीन ऋषियों से चली आ रही है। मान्यता है कि मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए-

(1) भृगु
(2) अंगिरा
(3) मरीचि
(4) अत्रि।

ये चारों गोत्र कर्ता थे। फिर भृगु के कुल में जमदग्नि, अंगिरा के कुल में गौतम और भारद्वाज, मरीचि के कश्यप, वशिष्ठ और अगस्त्य एवं अत्रि के विश्वामित्र हुए। इस प्रकार जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, कश्यप, वशिष्ठ, अगस्त्य और विस्वामित्र ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्र कर्ता या वंश चलाने वाले हुए। अत्रिका विश्वामित्र के अलावा भी वंश चला। इन्ही मूल आठ ऋषियों को गोत्रकृत माना गया। फिर इनमें से हर एक वंश ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुए जिनकी विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वंश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्र के अर्न्तगत पर स्वतन्त्र गोत्रकर्ता के रूप में जाने लगी।

समाज में कौन सा व्यक्ति गार्ग्य और कौन सा गार्ग्गायण था, इसका समाज में वास्तविक महत्व था।

समाज के प्राकृतिक संगठन में प्रत्येक गृहपति अपने घर का प्रतिनिधि माना जाता था। वही उस परिवार की ओर से जाति-विरादरी की पंचायत में प्रतिनिधि बन कर बैठता था। ऐसे व्यक्ति उस परिवार में मूर्धाभिषिक्त होता था अर्थात् उस परिवार में सब से बृद्ध स्थविर या ज्येष्ठ होने के कारण उसी के सिर पगड़ी बॉधी जाती थी। पगड़ी बॉधने की यह प्रथा आज भी हिन्दू परिवार में प्रचलित है, और प्रत्येक पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकारी होता था।

(4) सपिण्ड-

धर्म शास्त्रों के अनुसार पिता का सातवीं पीढ़ी और माता की पॉचवी पीढ़ी तक के संबन्धी सपिण्ड कहलाते हैं।

{मनु0- 5/60}

(5) सनाभि-

ऋग्वेद में ऋषि परुच्छेप का कथन है कि हमारी नाभियाँ मनु, अत्रि और कण्व आदि पूर्वजों के साथ मिली हुई हैं।

"अस्माकं तेषु नाभयः।"

(6) ज्ञाति-

माता-पिता के द्वारा अपने सभी संवन्धित वांधव ज्ञाति कहे गये हैं।

(7) संयुक्त-

ससुराल के सम्बन्धियों को संयुक्त कहते थे।

(8) कुल-

परिवार की संज्ञा कुल थी। कुल की प्रतिष्ठा प्राचीन भारतीय बहुत ध्यान देते थे। प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुल में उत्पन्न व्यक्ति कुलीन और महाकुल में उत्पन्न महाकुलीन अथवा महाकुल कहलाता था।

मनु ने बताया है कि किस प्रकार विवाह, वेदाभ्यास तथा यज्ञ इन तीन उपायों से कुलों की प्रतिष्ठा बढ़कर महाकुल जैसी हो जाती थी।

"मंत्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुल संख्या च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः।।"
{मनु0- 3/66}

महाभारत में इस प्रकार के महाकुलों की प्रशंसा की गयी है। इसी संदर्भ में धृतराष्ट्र ने विदुर से पूंछा- "महाकुलों को देवता भी चाहते हैं, हे विदुर! महाकुल कौन से होते हैं?

विदुर ने उत्तर दिया- "तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, पुण्य विवाह, सदा अन्नदान और सम्यक् आचार ये सात् गुण जिनमें हों महाकुल कहलाते हैं।"

"महाकुलानां स्पृहयन्नि देवा धर्मार्थवृद्धश्च बहुश्रुताश्च।
पृछामित्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि।।
तपो-दमो ब्रह्म वित्वं वितानाः पुण्या विवाहः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृन्तास्तानि महाकुलानि।।"
{महा0उद्योगपर्व- 36/22-23}

दूसरी ओर जो परिवार वेदाध्ययन में प्रमोद करते अथवा किसी भी रूप में सदाचार का परित्याग करते हैं वे अकुल या हीन कुल माने जाते हैं।

(9) वंश-

वंश दो प्रकार का होता था। विद्या और योनि संवन्ध से। विद्या वंश गुरु शिष्य परम्परा के रुप में चलता था। जो योनि संबन्ध के समान ही वास्तविक माना जाता था। योनि संबन्ध मातृवंश और पितृवंश से दो प्रकार का होता था।

शिष्य लोग अपने-अपने चरण में गुरु-शिष्य परम्परा अथवा विद्यावंश का पारायण वेदाध्ययन की समाप्ति के समय किया करते थे। उपनिषद में इस प्रकार के कई विद्या वंश सुरक्षित हैं।

ऐसी प्रथा थी कि वंश के मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या जोड़कर उस वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व का संकेत दिया जाता था।

(10) गृहपति-

प्राचीन काल में भी समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई गृह थी। गृह का स्वामी गृहपति उस गृह की अपेक्षा से सर्वाधिकार संपन्न माना जाता था। सामान्यतः गृहपति का स्थान पिता का था। उसके बाद उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र गृहपति का पद्वी धारण करता था। प्रत्येक जनपद में फेले हुए कुलों के इस ताने बाने को गार्हपत संस्था कहते थे।

कुरु जनपद में गार्हपत धर्म की विशेषताओं का वर्णन गुरु धम्म जातक में आया है। इस जातक में राजा से लेकर रंक तक लोक जीवन के 11 प्रतिनिधि व्यक्ति चुने गये है। जो इस प्रकार हैं-

(1) राजा - अहिंसा।
(2) राजमाता - समत्व।
(3) राजमहिषी - ब्रह्मचर्य।
(4) उपराजा - स्वामिभक्त।

(5) पुराहित - अलोभ।
(6) रज्जुग्राहक - परदु:ख निवृत्ति।
(7) सारथि - पशुओ पर दयाभाव।
(8) श्रेष्ठी - परद्रव्य के विषय में सूक्ष्मनैतिक सच्चाई।
(9) द्रोणमापक महामात्य - प्रजाओं के प्रति सहानुभूति।
(10) द्वारपाल - निष्ठुर वाणी परित्याग।
(11) गाणिका - अपने अंगीकृत कर्तव्य से आनृण्य भाव।

प्रत्येक अपने-अपने केन्द्र में रहते हुआ कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श सामने रखता है। उन सब का दृष्टि कोण वही है जो गीता में बताया गया है।

अर्थात् "ब्रह्म रूप में शील गुणों का पालन अधिक महत्व का नहीं, मन का भाव शुद्ध होना चाहिये। यदि भाव बिगड़ा है, तो बाहरी शील दिखावा मात्र है।"

कुरुधर्म के बारे में तीन बातें इस जातक से विशेष ज्ञात होती हैं।

(1) कुरुजनपद का गृहपति धर्म ऊंच, नीच, राजा, रंक आदि सारे समस्त जनपद का धर्म था। केवल राजा ऋषि या भिक्षुओं के लिए यह मार्ग न था।

(2) कुरुधर्म गृहस्थ जीवन का आदर्श पालन था। घर में रहते हुए शील धर्म का पालन यही छोटे-बड़े हर एक मानव की विशेष रीति थी। शील का पालन सबके लिए संभव है और प्रत्येक व्यक्ति का निजी कर्तव्य शील पालन का ही सच्चा रूप है।

(3) कुरुधर्म का सम्बन्ध स्वर्ग, नरक या मोक्ष से नहीं अपितु सीधे सादे नीति प्रधान जीवन मार्ग से था।

ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही उसकी विशेषता थी। इस कुरुधर्म या गृहपतियों के आदर्श के लिए ही लोक में कुरुगार्हपत यह सार्थक शव्द प्रचलित हुआ होगा।

जातक में स्पष्ट कहा गया है कि बुद्ध के जन्म से भी बहुत पहले के प्राचीन कुरु गृहपतियों के स्त्री सहित घर मे रहते हुए अल्पमात्र भी अनुचित कर्मों में अरुचि प्रकट की। यह भी कहा गया कि कलिंग देश की राजधानी दन्तपुर से ब्राह्मणों का एक दल कुरुधर्म जानने की इच्छा से कुरु जनपद में आया और वहां के पंडितों से उस धर्म को जाना और फिर उसे स्वर्णपट्ट पर उत्कीर्ण कराया और अपने राजा को दिया। ज्ञात होता है कि कर्म योग प्रधान कुरुधर्म का आदर्श ही कुरुदेश में कहे जाने वाले गीता शास्त्र के रूप में अवतरित हुआ। मज्झिम-निकाय की पपंच सूदिनी टीका में भी कुरुओं के इस शील प्रधान कुरुवत धर्म का उल्लेख है।

परित्थान सूक्त की अट्ठ कथा में कहा गया है कि कुरुदेश में समाधि संबंधी चर्चा का बहुत प्रचार था। दास कर्म कर (नौकर-चाकर) तक भी स्मृति प्रस्थान अर्थात् शीलवर्ती प्रज्ञा के विषय में चर्चा किया करते थे। पनघट पर एकत्र हुई एवं सूत कातती हुई स्त्रिया स्मृति-प्रस्थान की ही भावना करती थीं। उनमें जातीय स्वाभिमान, ममत्व भाव, वैक्तिक गरिमा स्वातन्त्रय आदि की भावनाओं की प्रधानता थी, ऐसा बौद्ध साहित्य से विदित होता है।

पंचम परिच्छेद

अन्नपान

अन्नपान के सम्बन्ध में शतपथ काल में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। भारतीय अन्नपान का इतिहास लिखा जाय तो शतपथ में उपलब्ध सामग्री उपयोगी होगी। भक्त शब्द के दो अर्थ थे, एक अन्न और दूसरा भात या उवला हुआ चावल।

"अर्थशास्त्र के अनुसार शिल्पियों को भक्त अर्थात् भोजन और वेतन या नगद मजदूरी दी जाती थी। पर खेतिहर मजदूरों को केवल भोजन या भक्त पर रखने की चाल थी।"

पतञ्जलि ने लिखा है "कृषि धातु का अर्थ खेत में हल चलाना मात्र नहीं था वल्कि मजदूरों को भक्त या भोजन, वीज और वैल आदि का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्न्तगत आता है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति खेती करता है, तब उसका तात्पर्य है कि वह इन सब का प्रबन्ध करता है।

अन्न और भोजन के प्रकरण में भोज्य, भक्ष्य, मिश्रीकरण, व्यंजन, उपसिक्त, संस्कृत आदि कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिनका स्पर्ष्टीकरण आवश्यक है।

{अ} भोज्य-

भोज्य को भक्ष्य अर्थ में लिया गया है। कात्यायन ने इस पर शंका की कि भोज्य में ठोस और तरल दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थ आते हैं। लेकिन भक्ष्य दांत से चबाए जाने वाले भोजन के लिए ही है। भोज्य का अर्थ भज्य की अपेक्षा विस्तृत है। भक्ष्य का अर्थ भोज्य की अपेक्षा कम है। किन्तु पदार्थ दाँत से नहीं चबाए जाते, उनके लिए भी भक्षण क्रिया भाषा में प्रयुक्त थी। इसलिए भोज्य भक्ष्य पर्याय है। खरविशद् (ठोस) और द्रव दोनों भक्ष्य है।

श्री गोल्डस्टूकर के अनुसार- अवश्य की शतपथ काल के समय में भक्ष्य और भोज्य पर्यायवाची थे। गुड शब्द को भाष्य में मिश्रीकरण द्रव्य और धान को भक्ष्य माना है। गोल्डस्टूकर का यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्राचीन कालीन शिष्ट भाषा में भक्ष्य केवल- भोजन के लिए प्रयुक्त था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शतपथ काल के समान ही भक्ष्य शब्द के दोनों अर्थ हैं।

{आ} मिश्रीकरण-

पलल (मांस), सूप (दाल) और शाक इन्हें भक्ष्य माना गया है। इन तीन पदार्थो में गुड़, घी आदि द्रव्य यथारूचि मिलते है, पर दोनों द्रव्य समान महत्व रखते है, और मिलना एच्छिक होता है। इसे मिश्रीकरण कहते हैं। गुड़ और धान दोनों को एक साथ पागकर बनायी गयी गुड़धानी नामक भोजन सामग्री में गुड़ और धान दोनों का महत्व होता है। इसी प्रकार गुड़, घी और तिल को मिश्र या मिश्रण योग्य माना है।

संसृष्ट-

यह भोजन में किसी दूसरी वस्तु को संसृष्ट करने अर्थात् अप्रधान और एच्छिक रूप से मिलाने का प्रकरण है। जैसे किसी वस्तु में दही डाल दें तो वह दाधिक कहलाएगी। ऐसे ही मिर्च, अदरक, पीपल आदि का मसाला जिस अचार में मिला दिया जाय तो वह मारिचिक, शागंवेरिक, पैप्पलिक कहा जायेगा। मिश्रीकरण प्रक्रिया में दोनों पदार्थ समान महत्व रखते हैं, पर संसृष्ट में जो पदार्थ मिलाया जाय वह गौड़ रहता है। दही लगाकर पूरी-पराठा खाने में दही गौड़ और पराठा प्रधान है। कात्यायन ने अत्यधिक वार्तिकों में जाकर लिखा कि नमक रस है, पदार्थ नहीं। उसका संसर्ग नहीं किया जा सकता। लावणिक का अर्थ नमकीन वनिया नहीं अपितु नमकरूपी पण्य का ब्यापारी। अतः मिरच, पीपल, अदरक की भाँति नमक का संसर्ग होता हैं मूंग भी अपेक्षाकृत गौड़ समझ कर मिलाई जाती है। जैसे मूंग का भात (मौद्ग ओदनः) प्रयोग में भात मुख्य और मूंग इच्छानुसार मिलाने की वस्तु है। मूंग की लपसी में भी यवागू मुख्य है। इच्छानुसार यदि उसमें मूंग की दाल मिलाकर खाई जाय तो वह मौद्रगी यवागू कहलाएगी।

व्यंजन और उपसिक्त-

मिश्रीकरण द्रव्य की मिलावट खाने वाले की इच्छा पर है। धान मे गुड़ का मिलाना एच्छिक होते हुए भी दोनों का महत्व समान माना जाता है। ऐसे ही संसर्ग वाले पदार्थों का मिलाना भी एच्छिक है। किन्तु संसर्ग वाले पदार्थ की उसमें प्रधानती उसमें नहीं होती। पर व्यंजन या उपसेचन की मिलावट उस भोज्य पदार्थ के लिए आवश्यक समझी जाती है।

क्षीर बनाने के लिए ओदन में दूध का मिलाना या दही का नमकीन भात बनाने लिए दही मिलाना आवश्यक है।

दाधिक-

भोजन में किसी पदार्थ का मिलाना ऐच्छिक है, किसका अनिवार्य, कौन प्रधान और कौन गौण है, इत्यादि बातें भोजन के प्रकार पर निर्भर है। एक दही को कई तरह से मिलाते और खाते हैं। सब में दाधिक प्रयोग एक सा है पर अर्थ भिन्न होंगे-

(1) दाधिकं-

दही अप्रधान और एच्छिक, जैसे दही के साथ रोटी या पूरी पराठा।

(2) दाधिकं-

दही व्यंजन उपसेचन स्वाद बढ़ाने वाले पदार्थ की तरह अवश्यमेव मिलाया जाय जैसे दही की पकौड़ी।

(3) दाधिक-

दही उत्सर्गधान या उस भोजन में नफासात के लिए मिलाया जाय जैसे- दही के बालूशाही, दही के आलू।

(4) दाधिकं-

दही को आधार मानकर उसमें बनाई वस्तु जैसे- दही की कढ़ी। कढ़ी दही का संस्कारक द्रव्य नहीं है, आधार भूत द्रव्य है। नमकीन गढ़ी के लिए नमक और मीठी के लिए गुड़ संस्कार द्रव्य कहा जायेगा।

विभिन्न प्रकार के अन्न या भोजन-

शतपथ काल में यह सामग्री इस प्रकार थी।

(1) धान्य
(2) कृतान्नवर्ग
(3) मधुर पदार्थ
(4) गव्य
(5) फल-शाक।

(1) धान्य-

धान्यों में कई प्रकार के चावलों का उल्लेख आया है, जैसे- शालि, महाब्रीहि, हायन, यवक, षष्टिका और नीवार।

शालि-

शालि का तात्पर्य जड़हन से है, जो कि अगहनी फसल में होते हैं।

महाब्रीहि-

वैदिक काल में इस चावल की श्रेष्ठ जाति का उल्लेख किया गया है। हो सकता है महाशालि भी महाब्रीहि से मिलती-जुलती कोई धान की जाति हो। चीनी यात्री श्यूआन् चुआंग के चरित लेखक हुई-ली ने लिखा है कि जब चीनी यात्री नालान्दा विश्वविद्यालय में ठहरा था तो उसे महाशालि चावल खाने के लिए दिया गया।

हायन-

यह नौ प्रकार के ब्रीहियों में था। शतपथ ब्राह्मण में एक तरह के लाल धान को 'हायन' कहा है।

यवक-

वैदिक काल में इस चावल का उल्लेख मिलता है।

षष्टिका-

साठ रात या दो महीने में इसकी फसल तैयार होने से यह नाम पड़ा, लोक में इसे साढ़ी कहते हैं। वैदिक काल से यह उक्ति प्रसिद्ध है कि- साठी पाके साठ दिना, दैव बरीसे रात दिना।

नीवार-

जंगल में स्वयं उपजने वाला घटिया किस्म का धान्य था। लोक में इसे 'पसही' (प्रसातिका) या तिन्नी का चावल कहते हैं।

(2) कृतान्न -

इसके अनेक प्रकार हैं।

ओदन-

जिसे भात भी कहा गया है। यह लोगों का प्रिय भोजन था। जल में उबाल कर बनाये गये शुद्ध चावल को उदकौदन या उदौदन कहते थे।

यवागू-

ओदन की तरह जौ की लपसी भी जनता का प्रिय भोजन थी। शतपथ में

अनेक बार यवागू का उल्लेख आता है। जातकों की कहानियो मे यवागू का आम भोजन ज्ञात होता है। इसके खाने में दातों से चवाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। साल्व जनपद में यवागू लोगों की विशेष प्रिय भोजन था।

यावक-

जौ को ओखल, मूसल से कूटकर भूसी अलग करके पहले पानी में उवालते थे फिर दूध शक्कर मिलाकर यावक बनाया जाता था।

पिष्टक-

सत्तू पानी में घोलकर डालकर आग पर पकाते हैं। कड़ा हो जाने पर उतार कर खाते हैं। यह भोजन आज भी पीठा कहलाता है।

संयाव-

दूध, गुड़ और गेहूं के आटे से बने हुए भोजन को संयाव कहते थे। यह आज कल हलुआ हुआ।

अपूप-

आटे में पानी घी मिलाकर या घी फेंटकर मन्दी-मन्दी में उतारे हुए मालपुए को ऋग्वेद में अपूप कहा गया है।

"य स्तेऽद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।।"
(ऋग्वेद- 10/45/9)

यह अपने देश का सवसे प्राचीन मिष्ठान्न था।

मन्थ-

भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था। इसे दूध मे मिलाकर या केवल पानी में घोलकर खाते थे।

कुल्माष-

कुल्माष दरिद्र लोगों का भोजन था। जिसमें थोड़ा जल, गुड़ या नमक और चिकनाई डालकर बनाये थे।

चूर्ण-

आटा और घी कढ़ाई में भूनकर और शर्करा मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। पढ़ांही बोली में उसे कसार किन्तु बनारस की ओर चूर्ण या चून कहते हैं।

(3) मधुर पदार्थ-

शतपथ काल में निम्नलिखित मिष्ठानों का वर्णन मिलता है।

मधु- इसका नाम क्षौद्र था। छोटी मक्खी का बनाया हुआ मधु क्षौद्र और बड़ी डंगारा मक्खी का भ्रामर कहलाता था। उत्तर भारत के किसान सरौती ईख को गुड़ के लिए अच्छा मानते हैं, और बोते समय ऐसे ही गन्नों के बीज का चुनाव करते हैं, जिससे अच्छा गुड़ बैठे। रस को औटाकर या तो गुड़ बनाते थे या फाणित अर्थात् राढा। फाणित से सर्करा बनती थी। शर्करा शब्द का एक अर्थ पत्थर की रोड़ी या ढोके भी था।

(4) गब्य पदार्थ-

दूध से बने हुए खाद्य पदार्थों को गव्य या पयस्य कहा गया है। दूध, दही, मट्ठा इनका उल्लेख भी शतपथ में आया है। जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। "शतपथ ब्राह्मण में उसी दिन के दूध से तत्काल निकाले हुए मक्खन को फण्ट कहा जाता है।"

{शतपथ ब्राह्मण- 3/1/8}

(5) शाक और फल-

भोजन के अन्न खाद्य पदार्थों में शतपथ में शाक, भाजी और सूप का उल्लेख आया है। फलों मे केवल आम्र और जम्बू का नाम है।

सूदकर्म-

भोजन बनाने वाला कोई रसोइया कितनी तोन का आटा पोकर उठता था, इस विशेषता के आधार पर उसका नाम पड़ जाता था। जैसे- एक प्रस्थ अन्न का पाचक प्रास्थिक कहलाता था और खारी भर अन्न का पाचक खारीक कहलाता था। ऐसे शब्दों की आवश्यकता समाज में दावत आदि प्रसंग में पड़ती थी। साधारण रूप से तो घर का भोजतन घर की स्त्रियां का बना लेती थीं, पर ब्रह्मभोज, जेवनार या जातीय भोजन के अवसर पर जब हजार-पाँच सौ आदमियों का भोजन होता था, तब मजदूरी पर हलवाई या रसोई बुलाये जाते थे। उस समय जैसा बड़ा छोटा कार्य हो उसके अनुसार रसोईये और बर्तन इन दोनों की तलाश की जाती थी। गाँवों में आज तक इस तरह के छोटे-बड़े बर्तनों की माँग रहती है।

मोटे तौर पर एक मन आटे में सौ व्यक्तियों के भोजन का हिसाब लगाया जाता है। एतएव एक साकट भार अन्न में ढाई हजार व्यक्ति भोजन कर लेते हैं।

षष्टम परिच्छेद

स्वास्थ और रोग

नाना प्रकार की औषधियाँ और रोगों के विषय में छानबीन प्राचीन काल से ही आरम्भ हो गये थे। प्रमुख विद्या केन्द्रों में इस अध्ययन को अधिक प्रोत्साहन मिला था। तक्षशिला में इस विषय का अनुशीलन विशेष रूप से होता था, जैसा कि बिम्बिसार राजवैद्य जीवक के यहाँ जाकर शिक्षा गृहण करने से ज्ञात होता है।

रोग और औषधियों से सम्बन्धित कुछ शब्द शतपथ में आये हैं। स्पर्श रोग छूत की बीमारी को कहते थे। वैद्य के लिए अगंदकार विशेष शब्द भाषा में प्रस्तुत होने लगा था। जडी-बूटी औषधि और तैयार दवाई औषध कहलाती थी। कई द्रब्यों को एकत्र कर कूट छान कर तैयार की हुई औषध को जातिवाचक शब्द नहीं माना गया, जैसे जड़ी बूटी बाची औषधियों को।

रोगों की चिकित्सा करने के लिए शतपथ काल में एक विशेष प्रकार का प्रयोग चल गया था, जो रोग के नाम से साथ बनाया जाता था। जैसे- प्रवाहिकातः कुरु, कासतः कुरु, छर्दिकातः कुरु अर्थात् प्रवाहिका (संग्रहणी), खाँसी या मचली के लिए कुछ उपाय करो, अर्थात् उनकी चिकित्सा करो।

रोगों का नामकरण-

रोगों का नामकरण काल ओर प्रयोजन इन दो कारणों से होता था। जैसे दूसरे या चौथे दिन आने वाला ज्वर द्वितीयक, चतुर्थक कहलाता था। ऐसे ही सर्दी देकर चढ़ने वाला ज्वर शीतक और गर्मी से आने वाला उष्मक कहा जाता था।

"उष्णं कार्यमस्य उष्णकः।"

विषपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर विषपुष्पक और कासपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर कासपुष्क था।

रोगवाची शब्दों के निर्माण की एक विशेष पद्धति बन गयी थी। अर्थात् रोगवाची शब्द एक ही ढंग से बनाये जाते थे। जैसे- प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचार्चिका।

वर्तमान चिकित्सा विज्ञान में भी एक की ढंग पर रोगों का नाम रखने की पद्धित है। आयुर्वेद की भाषा में रोग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा भी चल पड़ी थी।

शरद ऋतु में उत्पन्न रोग-

उत्तर भारत में वर्षा की समाप्ति पर शरद ऋतु के आरम्भ में ज्वर आदि रोगों का वड़ा प्रकोप देखा जाता है।

रोगों के नाम-

प्राचीन काल में रोगों के नाम इस प्रकार हैं-

अतिसार, अर्शस्, आस्नाव, कुष्ठ, पामन, विक्षाव (खॉसी), संज्वर (क्षयरोग का ज्वर), स्पर्श (यह एक रोग का नाम है), हृदय रोग।

आस्नाव का उल्लेख अर्थवेद में है, जिसे मूत्रातिसार कहा है। कुछ विद्धान उसे प्रमेह और कुछ संग्रहणी मानते हैं।
(वैदिक इंण्डेक्स- 1/74)

पामन् का नाम भी अथर्व में है। पामा का रोगी पामन कहलाता था।

क्षेत्रिय वह ब्याधि है जिसकी चिकित्सा दूसरे शरीर में हो सके अर्थात् ऐसा घोर रोग जो इसे जो इसे जन्म में ठीक न हो सके। अथर्ववेद में क्षेत्रियच् शब्द कई बार आया है। वहॉ उसका अर्थब्याधि विशेष किया गया है। भारतीय व्याग्व्याकार इसे पुस्तैनी बीमारी समझते हैं जो जन्म से साथ आती है और प्राणों के साथ जाती है।
(वैदिक इंडेक्स- 1/111)

सप्तम् परिच्छेद

वेशभूषा

वस्त्र और अलंकार

वैदिक काल मे वस्त्र और वसन शब्द चालू थे। ब्राह्मण तथा आरण्यक में चीर, चेल शब्द मिलते हैं। अच्डादन तथा चीवर शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलते थे। ग्रहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रों के लिए चीवर नहीं चलता था। आच्छादन शब्द का प्रयोग धर्म सूत्रों में अवश्य मिलता है।

वस्त्रों के विविध प्रकार-

रेशमी वस्त्रों को कौशेय असली (उमा) के तन्तुओं से वनाये हुए वस्त्रों को औमू-औमक, तथा वस्त्रों को और्ण-और्जक कहत थे।

वेशभूषा-

उत्तरीय और अन्तरीय अर्थात् उपरना और धोती यही इस देश का प्राचीन वेष था। कला में भी इसका अंकन मिलता है। इस जोड़े को ही युगल (जोड़ा) या केवल युगल भी कहते थे। जिस समय यूनानी इस देश मे आए, वे यहाँ के सरल और सुन्दर वेप से प्रभावित हुए। अर्रियन ने लिखा है-

"भारतीय प्रायः सूती वस्त्र पहनते हैं। वे नीचे पैर तक लटकती हुई धोती और ऊपर अंगो पर एक उत्तरीय डाल लेते हैं, जिससे कभी-कभी सिर भी ढक लेते हैं।"

प्राचीन काल में एक साड़ी या एक धोती का दाम एक कर्षापण था। यह चाँदी का सिक्का तोल में 32 रत्ती होता था।

"शतेन क्रीतं शत्यं शाटक शतम्"

यह उस प्रकार की धोती या साड़ी थी जिसके एक पल्ले पर गोमूत्रिका का भाँति किनारी बनी रहती थी। प्राचीन यक्ष मूर्तियों में सामने की ओर लटकती हुई पटली में गोमूत्रिका (बड़दामूतन) की भाँति किनारी प्रायः मिलती है।

कम्बल-

शतपथ काल मे पण्य कम्बल नाम से एक विशेष माप का बाजार में चालू कम्बल बनता था। उसमें जितनी ऊन लगती थी, उसके लिए कम्बल्य शब्द चालू था। कम्बल्य के लिए लिखा गया है कि सौ पल अर्थात् 5 सेर ऊन की संज्ञा कम्बल्य थी।

प्रावार-

यह एक प्रकार का कम्बल ही था। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरो के रोयें से प्रावारक नामक कम्बल बनता था। महाभारत में भी प्रावार का उल्लेख आया है। अतः ज्ञात होता है कि पण्य कम्बल की अपेक्षा यह महीन और बढ़िया किस्म का कम्बल था, जिसे तूस या दुसाला कहना चाहिए।

बृहतिका-

अमरकोश में बृहतिका को प्रावार लिखा गया है, किन्तु पतंञ्जलि के अनुसार सामान्यतः प्रयुक्त होने वाला वस्त्र था। मज्झिम निकाय में बृहतिका को 16 हाथ वाली लम्बी और 8 हाथ वाली चौड़ी कहा गया है- कोशल राज प्रसेनचित ने आनन्द से कहा- "यह बृहतिका मगध के राजा अजातशत्रु ने एक नलकी में रखकर मेरे पास भेजी थी। यह सोलक हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी है। हे आनन्द आप इसे स्वीकार करने की कृपा करें। आनन्द के कहा "महाराज इसे रहने दें। मेरे लिए त्रिचीवर ही बहुत है।"

इससे सूचित होता है कि बृहतिका या बाहतिका आज कल का तूस था। इस समय दुहरे तूस की लम्बाई 12 हाथ या 3 गज होती है।

नागरक जीवन-

नगर का प्रवीण व्यक्ति छेल नागरक कहलाता था। सौन्दर्य के लिए और सुभगंकरण और सजावट के लिए आढ्यंकरण का उल्लेख है। शरीर के विभिन्न अंगो को सजाकर उनका संस्कार किया जाता था। जैसे- बालों को सजाकर सँवारने-काढ़ने वाला छैल व्यक्ति केशक कहलाता था। अलंकार, केशवेष उसी क्षेत्र के शब्द हैं। वृन्दारक, नाग, कुंजर पूज्यमान आदि शब्द नागरिकों की सामाजिक प्रतिष्ठा का संकेत करते हैं। पुरुष सिंह, पुरुष व्याघ्र आदि नये शब्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने लगे थे। स्त्रियॉं शालभंजिका आदि क्रीड़ाओं से मनोविनोद करते थीं।

अलंकार-

अंगुलीय, कणिका, ललाटिका और ग्रैवेयक आदि गहनों का उल्लेख शतपथ में है। मौर्यशुंग काल की भारतीय कला में ये अलंकार मिलते हैं, विशेषरूप से परखम यक्ष जैसी मूर्तियों के गले मे पड़ा हुआ चपटा कंठा ग्रैवेयक का उदाहरण है। दीदार गंज यक्षी के माथे का बोल ललाटिका है। ऐसे ही भरहुत के प्राप्त सुर्दशना, चलुकोका, सिरिमा देवता की मूर्तियों में भी ललाटिका आभूषण दर्शनीय है।

"कुम्बा को वेद में स्त्रियों के केशों का आभूषण या अलंकार माना गया है।"
{वैदिक इंडेक्स- 1/163}

भूषण, अलंकार या सुभंगकरण से संबन्धित अन्य वस्तुओं का भी शतपथ में वर्णन आया है। जैसे- दर्शन या शीशा, अंजल माला, गन्ध, दण्ड, उपानह् आदि। यथामुखीन और सम्मुखीन दो प्रकार के शीशे होते थे। पहला चपटा और दूसरा उन्नतोदर या बीच में उठा हुआ जिसमे ठीक देखा जा सके। वैदिक युग में ही प्रसिद्ध सुरमा आने लगा था। इसे अथर्ववेद मे त्रैककुद अञ्जन कहते थे। कर्ण पर्व में आया है कि मद्र देश की गोरी स्त्रियाँ त्रैककुद अञ्जन से आँखों की शोभा बढ़ती थी।

"मनः शिलोज्वलापांगा गौर्यस्त्रिककुदांजनाः।"
{कर्णपर्व- 30/22}

सौवीर देश में सही सौवीराञ्जन कहा जाता था। यमुना का उपरली धारा के प्रदेश में स्थित यहाँ से यामुन अञ्जन आता था। मालाओं से शरीर सजाने वाले को मालभारी कहा जाता था।

अष्टम् परिच्छेद

शालाएँ

नगरों में जो अनेक प्रकार के भवन या निवास स्थान होते है, उनके नाम इस प्रकार हैं- राजसभा, गेह या गृह, निवास-निकाय, शाला, छत्रिशाला, निषया, द्वार, कपाट आदि का उल्लेख प्राचीन काल से ही चला आ रहा है।

शाला-

मूल में यह वैदिक शव्द था जो घर के लिए प्रयुक्त होता था। राजा की जो सभाएँ या आस्थान मंडप होते थे उसे भी शाला कहा गया है। छात्राओं के लिए निवास स्थान को छात्रिशाला कहा है। गौ आदि पशुओं के बाँधने की जगह को भी शाला कहने लग थे। गोशाला, खरशाला आदि। अन्न रखने के लिए कोठार को भी शाला कहा गया है। जिसमें नीचे की ओर बने हुए आनन या मुँह को शालाविल कहते थे।

घर-

घर के लिए वैदिक भाषा में गृहशव्द था। शतपथ में गृह, गेह, आगार और क्षय आदि कई शब्दों का उल्लेख किया है। क्षय शव्द इस अर्थ में विशेष था जो सथा पर्व में भी आया है।

"अजायत् यदुक्षये" अर्थात् कृष्ण का जन्म यदुओं के घर में हुआ।

भांडागार, देवागार और कोष्ठागार। इन तीन प्रकार के आगार और नियुक्त अधिकारियों का उनमें उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि आगार बड़ी इमारत होती थी। जिसके कई भाग होते थे। द्वार प्रकोष्ठ से हिन्दी का बरौठा शव्द बना है जो घर के द्वार के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्मद्वार प्रकोष्ठ वड़े मकानों के सामने बना हुआ वह द्वार है जिसमें कई कमरे होते थे, और जिसमें महाकपाट या बड़ा फाटक लगाया जाता था। आज कल उसे ड्योढ़ी भी कहते हैं।

डा0 कुमार स्वामी ने प्राचीन भारतीय शिल्प सामग्री के आधार पर द्वारकोट्ठक का अर्थ नगर के प्राकार या चाहारदीवारी में बने हुए बड़े फाटक के रूप में किया है।

निषद्या-

पथिकों के लिए निर्मित विश्राम गृह के अर्थ मे अशोक के लेखो में निसडिया शब्द आया है। नागार्जुनी पहाड़ी की गुफाओं को वहाँ के उत्कीर्ण लेखो मे वासनिसिडिया कहा गया है। अर्थात् वर्षा ऋतु में भिक्षुओं के विश्राम करने का सीन।

निकाय्य-

वैदिक काल में निकाय्य का उल्लेख है। जिसे निवास का पर्याय माना गया है। यजुर्वेद में एक वार निकाय शब्द आया है किन्तु शतपथ के अनुसार वह वायु छन्द का नाम था। अर्थशास्त्र में निकाय शब्द का प्रयोग है पर संघ के अर्थ में मनु ने देव निकाय का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ कुल्लूक टीका में देव निवास स्थान किया गया है। यह कहना कठिन है कि निकाय सब घरों के लिए या केवल भिक्षुओं के निवास के अर्थ में आता है।

एकशालिक-

इसका दूसरा रूप ऐकशालिक भी था। जो एक व्यक्ति का अपना निवास हो वह एकशालिक या ऐकशालिक कहलता था। इस शब्द का अर्थ यह नहीं था कि जिस व्यक्ति का एक घर को, वल्कि वह मकान जो केवल एक व्यक्ति के इस्तेमाल में आता हो, अर्थात् जो सार्वजनिक न हो। यह स्थिति इस उदाहरण से समझ में आती है। दीघ निकाय में लिखा है कि श्रावस्ती के तिन्दुक वन नामक वगीचे में वना हुआ रानी मल्लिका का घर पहले 'एकशालक' था अर्थात् उसके अपने या अपने अतिथियों के काम में आता था।

उस समय की प्रथा थी कि प्रायः धनिक या शौकीन लोग अपने शाही मकान के अलावा नगर के वाहर बगीचा बनाकर उसमें भी एक मकान विश्राम-विनोद के लिए वनाते थे। मल्लिका का वह एक शालक घर वाद में भिक्षु संघ को दान कर दिया गया। तव वहुतों के काम मे आने के कारण उसके लिए कहा है- 'बहूशालाकतां'।

उस काल की समाज में इस बात का कुछ महत्व था कि रईस के वगीचे वाला घर उसके अपने लिए है या उसने सबके लिए खोल रखा है। श्रीवस्ती के नगर सेठ अनाथ पिण्डक की कहानी है कि उसने राजकुमार जेत का बगीचे वाला मकाल जो पहले राजकुमार अपने काम में आने से एकशालिक था, खरीदकर भिक्षु संघ को दे डाला अर्थात् वहुशालिक बना दिया।

बनारस में अभी तक शहर के वाहर इस प्रकार के घर रखने की प्रथा चली आ रही है। जहाँ उनके स्वामी सांझ-सवेरे गंभीर वाद्य यानों पर सवार होकर ठाठ से जाते हैं।

घरों की सामग्री-

वैदिक युग में इष्टकाएं बनने लगी थी। पालि साहित्य में ईटो से चिनाई करने वाले कारीगरों को "इट्ठकावड्ढकि" कहा गया है। घर की छत के लिए छद्मि शब्द था, जो सम्भवत: फूस के छप्पर के लिए प्रयुक्त होता था।

घरों के द्वार और उनके कपाट या किवाड़ो का भी उल्लेख शतपथ में आया है। किवाड़ तोड़कर घुस जाने वाले चोरों के कपाटध्न शब्द प्रचलित था। ऐसे चोर वस्तुत डाकू थे। कपाटध्न का अर्थ ऐसा व्यक्ति नहीं जिसके घूंसे से किवाड़ तोड़ने की ताकत हो, बल्कि वह जो बन्द किवाड़ो पर धम-धम करके चुनौती दे और सामने से चोरी करे।

महाकण्ह जातक में राजभवन के बड़े फाटक को तोड़कर घुसने के लिए "कवाटे ठपेत्वा" शब्द आया है। किवाड़ो को भी भीतर की ओर से परिघ या पलिघ लगाकर बन्द करते थे। यह लकड़ी का वह डण्डा या अर्गला था, जिसे किवाड़ो के पीछे खींचकर अटकाया जाता था।

रहने के घर और और शालाओं के अतिरिक्त हाट में आपण या दुकाने होती थी जहाँ विक्री की वस्तुएं रखी जाती थीं।

आवसथ या आवसथ्य उस घर के लिए प्रयुक्त होता था, जो यज्ञशाला के पास आवसथ्य अग्नि के लिए बनाया जाता था, अथवा जहाँ ब्राह्मण आदि विशिष्ट अतिथियों का स्वागत सत्कार किया जाता था।

नवम् परिच्छेद

नगरमापन

शतपथ काल में कापिशी, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, सांकाश्य जैसे आदि प्रसिद्ध नगरों का वर्णन आया है। यह इस बात का प्रमाण है कि वास्तुविद्या एवं नगरमापन शास्त्र अस्तित्व में आ चुके थे।

महाभारत में लिखा है कि जिस समय युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया था उन्होंने व्यास तथा कृष्ण आदि प्रतिष्ठित पुरुषों को बुलाकर आरम्भिक उत्सव किया और नगर के लिए नियत भूमि पर मापन से इस बात का निश्चय किया कि परिखा, प्राकार, राज प्रासाद, गोपुर एवं चत्वर, वीथी, आदि का स्थान कहाँ-कहाँ रहेगा।

"नगरंमापयामासुः।" इसी को नगरमापन कहते थे। महाभारत आदि पर्व में इसका उल्लेख इस प्रकार है-

"ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्ण पुरोगमाः।
मण्डयाञ्चक्रिरे तद् वै पुरं स्वर्गवदच्युताः।।
ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासु द्वैपायन पुरोगमाः।।
सागर प्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकरेण च सम्पन्नं दीर्घमावृत्य तिष्ठता।।
द्विपक्ष गरूड़प्रख्यैद्वारैर्घोर प्रदर्शनै।
गुप्तमत्र्युच्चय प्रख्यैः गोपुरैर्मन्दरोपमैः।।
{आदिपर्व- 199/27,-29,-31}

नगर निवेश करने वाले वास्तुविद्याचार्य तदर्थ निश्चित भूमि का पहले संस्कार करते थे। भूमि शोधन के बाद नगर मापन किया जाता था। नगर निर्माण में परिखा प्रकारा और द्वार इन तीन का निर्माण सर्वप्रथम होता था। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि दुर्गविधान या पुरसन्निवेश के लिए परिखा-निर्माण सबसे होना चाहिए।

प्राचीन नगर या दुरों का सन्निवेश दुर्ग के टंग पर ही किया जाता था। और रक्षा या नगर गुप्ति के लिए गहरी खॉई और ऊंची चारदीवारी या पर कोटे का निर्माण आवश्यक समझा जाता था। इस प्रकार सारी पृष्ठिाूमि यह बताती है कि किस प्रकार नगर निर्माण के लिए पहले सामग्री इकट्ठा की जाती थी, तब नगर मापन किया जाता था।

काशिका में इसके तीन महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। प्राकारीया इष्टकाः, प्रसादीया भूमि., प्रसादीय दारु।

तीन खाईयाँ खोदने के उद्देश्य से नियत की हुई समस्त भूमि पारिखोई भूमि कहलाती थी।

"परिखा आस्मिन् देशे स्यादिति।"

परिखा के लिए भूमि नियत हो जाने पर तुरन्त उसके बाद अन्दर की ओर चारदीवारी था, परकोटे का स्थान नियत किया जाता था। उसे प्रकारीय देश कहते थे।

"प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यादिति।"

इस पर काशिका में स्पष्ट रूप से लिखा है कि इस शब्द के पीछे नहीं था कि उस भूमि की मिट्टी से परकोटा बनेगा किन्तु वह भूमि ऐसी गुणवती या इस योग्यथी कि वहाँ परकोटा बनाया जाय।

"देशस्य च गुणेन संभाव्यते, प्रसादोऽस्मिन् देशे स्यादिति प्रकृति विकारभावस्तादर्थ्य चेह. न विवक्षितम्, किन्तर्हि, योग्यतामात्रम्।"

– काशिका

परिखा और प्राकार का स्थान निश्चित हो जाने पर नगर या दुर्ग के भीतर सबसे महत्वपूर्ण स्थान राजप्रासाद होता था। अतएव उसका स्थान भी आरंभ में ही नगर के केन्द्रीय भाग में नियत कर दिया जाता था। उसके उदाहरण इस प्रकार हैं:

"प्रासादीय भूमिः" अर्थात् वह भूमि जहाँ राजमहल बनेगा। "प्रासादोऽस्यां भूमौ स्यादिति"।

इसी प्रसंग में उन ईंटो को "प्राकारीयाः इष्टकाः" कहा जायेगा जो नगर का परकोटा या प्राकार बनाने के लिए तैयार की जाती थी। शहर पनाह या नगर कोट की ईंटें पाथने के लिए लम्बा चौड़ा काम फेलाना पड़ता था। क्योंकि करोड़ों ईटों को पकाने के लिए ईंधन के पूरे जगल की आवश्यकता पड़ती थी। राजप्रसाद बनाने के लिए भारी-भारी साल के लट्ठों की आवश्यकता होती थी।

भारतीय वास्तु विद्या के आरम्भिक युग में राजप्रसाद और राजसभा का अधिकांश निर्माण लकड़ी के लट्ठों से ही किया जाता था। उन्हीं के लिए 'प्रासादीय दारु' पद प्रचलित था। जातकों में कहा गया है कि वास्तु विद्या के लिए विशेषज्ञ जंगल में जाकर पुराने पेड़ों का चुनाव करते थे और उनकी पक्की लकड़ी कटवा कर प्रासाद के लिए लाते थे।

परिखा-

खांई खोदने के लिए काम पहले छेड़ने का प्रयोजन यह भी था कि उसमें से निकली हुई मिट्टी से ही प्राकार की ईंटे पाथ ली जाती थी या पक्के परकोटे के बाहर एक कच्चा परकोटा भी उसीसे बना लेते थे, जिसे अर्थशास्त्र में पांसु प्राकार कहा गया। मध्यकाल में उसे की धूलकोट कहते थे, जैसा कि मथुरा आदि नगरों के चारों ओर अभी तक कहीं-कहीं बच गया है।

अर्थशास्त्र मे लिखा है कि दुर्ग के चारों ओर तीन परिखाएँ बनानी चाहिए। इनके बीच में एक-एक दण्ड भूमि छोड़नी चाहिए। पहली परिखा 14 दण्ड, दूसरी परिखा 12 दण्ड और तीसरी परिखा 10 दण्ड चौड़ी होती थी।

{अर्थशास्त्र- 2/23}

इस प्रकार कुल पारिखेयी भूमि 14+1+12+1+10=38 दण्ड =(228 फुट, एक दण्ड=6 फुट) चौड़ी होती थी।

प्राकार और देवपथ-

शतपथ में देवपथ शब्द उल्लेख किया गया है। जिसके दो अर्थ हैं। पहला तो आकाश में विमानचारी देवताओं का मार्ग देवपथ कहा जाता है। रघुवंश में उसे सुरपथ कहा गया है-

"क्वचित् पथा संचरते सुराणां क्वाचित् धनानां पतनां क्वचिच्च्।
यथाविधो में मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमनम्।।"

{रघुवंश- 13-/19}

"यहाँ धनपथ, सुरपथ, खगपथ आकाश में क्रमशः ऊँचे उठते हुए मार्ग थे।"

दूसरा मार्ग देवपथ के समान जो ऊँचा हो उसे भी देवपथ कहा जाता था।

"देवपथ इव देवपथः।"

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि देवपथ उस ऊंचे मार्ग का नाम था जो किले की चारदीवारी के ऊपर इन्द्रकोश या कंगूरों के पीछे बनाया जाता था।

"अन्तरेषु बृहत् च विष्कम्भ पार्श्वे चतुर्गुणयामं अनुप्रकारम् अष्टहस्तयत देवपथं कारयेत्।"

{अर्थशास्त्र- 2/3}

यह आठ हाथ या बारह फुट चौड़ा होता था। प्राचीन दुर्गनिर्माण पद्धति के अनुसार प्राकार का ऊंचाई 12 हाथ से 24 हाथ (18 फुट से 36 फुट तक) होती थी।

भाष्य में पाटिलपुत्र नगर के विशिष्ट प्रासाद और प्राकारों का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है पाटलिपुत्र के परकोटे के भिन्न-भिन्न अवयवों (प्रतोली, अट्टालक, इन्द्रकोश, देवपथ आदि) को ठीक-ठाक समझना हो तो सुकोशला अर्थात् अयोध्या को देखकर समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शुंगकाल में अयोध्या राजधानी हुई थी। और उसका निर्माण हूबहू पाटलिपुत्र के समान किया गया था।

नगरद्वार-

प्राचीन नगरों में प्रायः चार बड़े फाटक परकोटे में लगाये जाते थे तथा उस द्वार का नाम उस नगर के नाम पर पड़ता है, जिसकी ओर उस द्वार से निकल कर मार्ग जाता है। जैसे- "माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्" अर्थात् कन्नौज का वह दरवाजा जहाँ से मथुरा की ओर सड़क जाती है। आजतक भी नगरद्वारों के नाम रखने की यही रीति है। मथुरा में बने दरवाजे का नाम इसी कारण पड़ा क्योंकि वहाँ से भरतपुर के लिए रास्ता निकलता था। द्वार की तरह सड़को का नाम भी पड़ता था। जो सड़क जिस नगर की ओर जाती थी, उसका वैसा ही नाम होता था। मथुरा को यदि केन्द्र मान लें तो उसके चारों ओर के शहरों से मथुरा की ओर आने वाली जितनी सड़के थीं, वे माथुरपथ कहलाती थीं। उनका एक छोर छिन्न भिन्न नगरों मे होता था। पर सबका दूसरा छोर मथुरा में मिलता था। इस प्रकार कन्नौज के माथुर द्वार से होकर मथुरा की ओर जाने वाली सड़क का नाम माथुर पथ पड़ता था।

इन सड़को पर पथिकों के ठहरने के लिए विश्राम सील बनाये जाते थे। जिस लक्ष्य स्थान तक सड़क जाती थी उसे मर्यादा कहते थे। बीच के पड़ाव की अपेक्षा से इस ओर का भाग अवर और उस ओर का भाग पर कहलाता था। उदाहरण के लिए साकेत से पाटलिपुत्र को जाने वाले मार्ग में कौशाम्बी का पड़ाव था। साकेत और कौशाम्वी के बीच का भाग अवर और कौशाम्बी से उधर साकेत की अपेक्षा से पर कहलाता था। इन दूरियों में भी छोटे-छोटे पड़ाव होते थे, जहाँ यात्री ठहर कर दिन के अन्त में भोजन बनाते रहे होंगे।

उत्तरपथ-

वैदिक काल में उस लम्बे मार्ग का उल्लेख किया गया है जो सारे उत्तरापथ के यातायात की बृहत् धमनी थी, यह मार्ग पाटिलपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, शाकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा की बड़ी राजधानियों को मिलाता हुआ बह्लीक तक चला जाता था। यूनानी लेखकों ने उत्तरपथ का ठीक अनुवाद करते हुए इस महापथ को "नार्दन रूट" कहा था। जो आज कल का "ग्राण्ड ट्रंक रोड" कहलाता है।

ग्राम-

ग्रामों के स्वरूप की कल्पना प्राचीन काल में कुछ इस प्रकार होती हैं। वन, कठिन (बँसवाड़ी) नदी, टीले, जंगल और प्रस्तार (चट्टानी स्थान) ये सब गांवो के आसपास की भूमि की विशेषताएं थीं। किसान के घर कुटीर कहलाते थे, जिन पर आज कल की तरह फूस के छपपर छाये जाते थे। एक घर में एक परिवार या गार्हपत रहता था। सरी गॉव बस्ती के लिए वसति शब्द चलता था। गॉवों का समूह ग्रामता थी। गॉवों में मनुष्यो के लिए कूप और पशुओं के लिए निपात या चरही बनाई जाती थी।

गॉवों के चारों ओर की धरती के कई भाग होते थे-

(1) क्षेत्र या हल के नीचे आई हुई खेतिहर भूमि
(2) गोचर या चारागाह
(3) वंश कठिन या पेड़ों के झुरमुट और बँसवारी
(4) सरपत और मूंज के जंगल
(5) औषधियों के जंगल और वनस्पति या बड़े पेड़ो के वन एवं फलो के बगीचे जो गांव के बाहर होते थे।
(6) कहीं-कहीं ऊषर के रूप में पड़ती धरती।

खेती की भूमि अलग-अलग टुकड़ों में बंटी हुई होती थी। प्रत्येक को भी क्षेत्र कहते थे। गोचर भूमि सारे गॉव भर की समझी जाती थी, जहॉ गॉव भर के पशुओं को चरने की छूट थी। गॉव के बाहर उससे लगे हुए गोष्ठ या ब्रज होते थे, जिनमें बहुसंख्यक पशुओं को रखा जाता था। गौओं को चराने के लिए गोपाल और भेड़ बकरियों के लिए तन्तिपाल होते थे। ग्वालों के गॉव घोष कहे जाते थे। पशुओं के गोष्ठ स्थान नए-नए चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटते रहते थे।

गाँव के साथ लगने वाली भूमि अरण्य से पृथक होती थी। अरण्य के पशु अरण्य और वहाँ रहने वाले वनवासी मनुष्य आरण्यक कहे जाते थे। जिस जंगल मे सब चारे या घास को पशुओ ने चर लिया हो वह आशि तंगर्वान कहलाता था।

दसम् परिच्छेद

शयनासन

शतपथ काल में घरेलू सामान के लिए शयनासन शब्द प्रसिद्ध था। शयन के काम में आने वाले खाट-पलंग और आसन के लिए पीढ़े-चौकी आदि मिलकर शयनासन कहलाते थे। इसे ही पाली में सेनासन कहा है। गॉव की बोली में आज कल इसे खाट-खटोड़ा कहा जाता है। गृह के कार्य में लाये जाने वाले अनेक वस्तुओं के लिए निम्न शब्द आये हैं- शय्या, खट्वा, पर्यंक या पल्यंक आसन्दी (राजकीय आसन्दी सा गद्दी होने के कारण उसका यह नाम पड़ा), अर्थात् कुर्सी या राज सिंहासन, विष्टर, आसन, पर्प (अशक्त व्यक्तियों के लिए पहियेदार पीढ़ा या चौकी), पर्प पर बैठकर चलने वाले को पार्पिक कहा जाता था। इसे ही यजुर्वेद, मनु और जातक में पीठ सर्पी कहा गया है।

पात्र या वर्तन-

घरेलू वर्तनो के नामों का उल्लेख शतपथ काल में इस प्रकार किया गया है।

(1) कुम्भ (बड़े आकार का घड़ा)
(2) कंस, गगरा जैसा पात्र विशेष (कुछ लोग इसे फूल या कॉसे का पात्र समझते हैं।) यूनानियों का ध्यान इसी ओर गया था। उन्होंने लिखा है कि यह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था।
(3) कुण्डी पत्थर या लकड़ी की कूंडी
(4) सीली या घटलोई
(5) उखा, कढ़ाई
(6) कलशी या छोटी गगरी या लुटिया
(7) कपाल, शराव मिट्टी के पात्र

और अन्य अनेक मिट्टी के भाड़े जो कौलालक कहलाते थे। अपने देश में गांव और शहरों के घरेलू जीवन में मिट्टी के पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

चमड़े का पात्र-

शतपथ मे चमड़े के पात्रों का भी उल्लेख मिलता है। चमड़े के वड़े कुप्पे और छोटी कुप्पियों को क्रमशः कुतु और कुसुप कहते थे। तेल रखने की छोटी कुप्पियों को उदंक और वड़े डोल या पानी उठाने के मोट को उदञ्चन कहते थे। चमड़े की मशक भस्त्रा

या दृति कहलाती थी। दृति का नाम वैदिक साहित्य में आया हुआ है। पञ्चविंश ब्राह्मण में क्षीरदृति और सुरादृति का उल्लेख आया है।

"सक्षीर दृतयो रथा भवन्ति"
{पञ्चविंश ब्राह्मण- 16/13/13}

दृति या मशक में रख हुआ पदार्थ दर्तेय कहा जाता था। आजकल दृति केवल पानी भरने के काम में आती है। शुष्क चर्म काष्टवत् की उक्ति के अनुसार राजस्थान. में दृतिया परवाल का पानी शुद्ध माना जाता है। पहाड़ी इलाके में जहॉं यातायात के पथ नहीं हैं, आज भी घोड़े, टट्टू, झव्वू आदि पर दृति लादकर सामान ढोते हैं। उससे दुर्गम पहाड़ी मार्गो में भेड़ वकरी दृति हरि पशु के रूप में काम में आते है।

भस्त्रा-

शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि भस्त्रा में सत्तू भर कर ले जाये जाते थे।

"यथानिर्धूतसक्तुर्भस्त्रा एवं हतो वृत्रः संलीनः शिष्ये।"
{शतपथ- 1/6/3/46}

वहॉं पर लिखा है कि ऋषि लोग कोष्ठ (कोठार) या कुम्भी में रखे हुए अन्न को लेना पसद नही करते। उन्हें खेत से भस्त्राओं में भरकर और छकड़े पर लादकर लाया हुआ अन्न ही भला लगता है, क्योंकि भूमा या अधिक वस्तु उनके मन को रुचती है-

"न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै ह स्म ऋषियों गृहणन्ति"
{श0- 1/1/2/7}

इससे भस्त्रा प्रयोग नित्य प्रति के जीवन में सूचित होता है। जो लोग नदी में हवा से फूली हुई मशकों का बेड़ा बनाकर उससे माल ढोते या नदी पार कराते थे उनके लिए भाषा में मस्त्रिक शव्द काम में आता था। यह प्रथा उत्तर पश्चिमी भारत की नदियों में विशेष थी। उदीच्य देश के लोग भस्त्रिका को भस्त्रका कहते थे।

गोणी-

गोण से बने हुए आवपन को थैले को गोर्णी कहा जाता था। वैदिक साहित्य में गोण शब्द नहीं मिलता किन्तु दीघ निकाय के ब्रह्म जालसुन्त में गोणक शब्द आया है जो लम्वे वालों वाले बकरों के बालों से वना हुआ मोटा ऊनी वस्त्र होता था। श्री मोतीचन्द्र का

अनुमान है कि यह गोणक शब्द कौनक से सम्बद्ध है जो ऊन का बनता था और जिसे प्राचीन सुमेर अक्कद देश के निवासी पहिनते थे।

गोर्णी शब्द को हिन्दी में गौन या गोनी कहते है। गौन में अनाज, नमक आदि भरकर पशुओं पर लादा जाना है। चरक के अनुसार गोर्णी खारी का नाम था, जो चार द्रोण के बराबर होती थी। शांगधर से भी इसका समर्थन होता है। हिसाब से गोर्णी लगभग ढाईमन तौल की थी।

विवध-

इसे हिन्दी में वँहगी कहते हैं (संस्कृत में विहंगिका)। कहार (उदकहार या उदहार) कुओं से पीने का पानी वँहगी में लादकर घरों में भरते थे। यह प्रथा गाँवों में आज भी है।

कौटिल्य ने विवध शब्द का प्रयोग नए पारिभाषिक अर्थ में किया गया है अर्थात् सेना मे रसद या माल ढोने वाला विभाग।

{अर्थ0- 12/4}

अन्न संग्रह-

शतपथ में अन्न संगह के कई पात्रो का उल्लेख आया है। जो इस प्रकार है-

(1) कुसूल-

बहुत वड़ा लम्बोतरा मिट्टी का बना हुआ कुठला या कोठी जो मनुष्य की ऊँचाई से कुछ ऊँची होती है और जिसमें 15 से 20 मन तक अनाज आ सके। शतपथ में इसी को कौष्ठी या कोठी कहा गया है।

{शत0- 1/1/2/2}

(2) कुम्भ-

मिट्टी का बड़ा घड़ा जिसका मुँह अपेक्षाकृत छोटा हो। इसे सिन्ध की ओर गोदी कहा जाता है। शतपथ कोष्ठ के वाद कुम्भी का उल्लेख है और इन्हीं दोनों को लक्ष्य मानकर मनु ने कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक गृहस्थों का उल्लेख किया है। शतपथ में कहा गया है कि-

"न कोष्टस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै ह स्म ऋषयो गृहणन्ति।"

इससे ज्ञात होता है कि साल भर के लिए अन्न रखने वाला गृहस्थ कुसूलधान्यक और छह महीने या एक फसल के लिए रखने वाला कुम्भीधान्यक कहलाता था।

"कुसूलधान्यकोवा स्थान् कुम्भीधान्यक एववा।"
{मनु0- 4/7}

(3) कूप-

इसका तात्पर्य पक्की मिट्टी की बनी हुई लगभग तीन फुट व्यास की उन चकरियों से ज्ञात होता हैं जिन्हें एक के ऊपर एक रखकर अन्न संग्रह के लिए कुठले जैसा बनाया जाता था। प्रत्येक चकरी को मण्ड और इस प्रकार के कुठल को गण्ड कुसूल कहा जाता था।

{हर्षचरित}

मथुरा, अहिच्छत्रा कौशाम्बी, राजघाट, पाटलिपुत्र आदि के उत्खन्न में सर्वत्र इस प्रकार के गण्ड कुसूल पाये गये हैं, जो कहीं-कहीं कुएं की तरह ही गहरे हैं।

(4) शाला-

शतपथ काल में सम्भवतः अन्न रखने के बसर को ही शाला कहा गया है।
सोमयज्ञ करने के लायक व्यक्ति का विचार करते हुए कहा गया है, कि तीन वर्ष तक खाने लायक अन्न जिसके पास हो वह सोमपान कर सकता है-

"यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्त भृत्य वृत्तये।
अधिकं वापि विद्यते ससोमं पातुर्हमति।।"
{मनु0- 11/7}

तीन वर्ष के लिए पर्याप्त अन्न संग्रह करने का साधन कुसूल से भी कम से कम तिगुना बड़ा होना चाहिये और उसी का नाम शाला जान पड़ता है। सम्भवतः यह ऐसा कोठा होता था जिसे अन्न भरने के बाद चारों ओर से बन्द कर देते थे।

एकादश परिच्छेद

वाहन

शतपथ काल में आने-जाने या माल ढोने के लिए सवारी या वाहन कहलाती थी। ये दो प्रकार के होते थे, सील के लिए और जल के लिए जिन्हे उदवाहन कहते थे। वाहन का नाम उसमें लदे हुए बोझे के अनुसार पड़ता था। जैसे- इक्षुवाहण, शरवाहण, दर्भवाहण। आज भी गन्ने का गाड़ी, गेहूं की गाड़ी, रूई की गाड़ी का नाम इसी नियम से बने हैं।

शकट-

बोझा ढोने की गाड़ी या मग्गड़ को शकट और उसमें जुतने वाले तगड़े बैल को शाकट कहते थे। जो बैल जिस तरह की गाड़ी खींचता था उसी के अनुसार नाम पड़ जाता था, और उसके लिए रातिव और खातिर का प्रबन्ध उसी के हिसाब से किया जाता था।

प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि पॉच-पॉच सौ छकड़ो पर माल पर लाद सार्थवाह लोग लम्बी-लम्बी मात्राएँ करते थे। यह सब दृढ़ ठुके हुए शकट और उन्हें खींचने वाले धुरन्धर बैलों की कृपा पर निर्भर था।

रथ-

रथ विशेष करके मनुष्यों के आने जाने का यान था। रथों का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था। सेना में भी रथों का उपयोग होता था। रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खींचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खींचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य कहा गया है। इतर साहित्य में इन दोनों को वाहन अर्थात् सवारी भी माना है। वैदिक साहित्य में अश्वरथ के अतिरिक्त रासभरथ और अश्वतरी रथ का भी उल्लेख है। महाभारत में दुर्योधन ने पुरोचन को रासभ युक्त स्यन्दन पर चढ़ाकर वारणावत जाने की आज्ञा दी जिससे कि वह उसी दिन वहाँ जा पहुँचे।

"स त्वं रासथ युक्तेन स्यन्द नेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु।।"
{म0 आदिपर्व- 132/7}

गाड़ी के पहिए बनाने के लिए बढ़ई लोग उसकी नाह की लकड़ी के चुनाव में विशेष सावधानी बरतते है। यह लकड़ी गाठों से रहित पक्की ठोस और गाभें की होनी चाहिए, क्योंकि इसी के भीतर धुरी पिरोई जाती है। और इसी के ऊपरी भाग मे अरे ठोके जाते हैं। इसे प्राचीन भाषा में उपाधि कहा जाता था। उस समय बनने वाले रथों की लम्बाई इस प्रकार थी-

ईषा की लम्बाई 188 अंगुल = पौने बारह फुट।
धुरे की लम्बाई 104 अंगुल = 6।। फुट।
जुए की लम्बाई 86 अंगुल = 5 फुट 4।। इंच ।

यह नाप पूरे रथो की थी। ऐसे रथों को परम रथ या उत्तम रथ कहते थे।

रथों का बनाना-

प्राचीन भारतीय पद्धति में रथ बनाने की चार अवस्थाएं थीं। सबसे पहले बढ़ई रथ के एक भाग जैसे रथ चक्र, ईषादण्ड, अक्ष, युग, कूबर, आदि को अलग बना लेता था। दूसरी अवस्था मे उन्हे एक में ठोकता और मिलाता था। जैसा कि भाष्य मे उल्लेख किया गया है-

"यथा तर्हि रथाग्नि विहतानि प्रत्येकं त्रिजिक्रियां
प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत् समुदायश्च रथः समर्थः।"
{महाभाष्य}

तीसरी अवस्था वह थी कि जिसमें रथ को चमड़े और कपड़ो से मढ़ा जाता था, तथा चौथी अवस्था में रथ को जहाँ-तहाँ आवश्यक रस्सियों से जिन्हें अव जन्दनी कहा जाता है, से कसा जाता था।

चक्ररक्षक पुरुष-

भरत जनपद में और प्राच्य देश में परिस्कन्द शब्द प्रचलित था। इसकी ध्वनि है कि उदीच्य देश में उसका उच्चारण मूर्धन्यषकार के साथ परिस्कन्द होता था। परिस्कन्द उन दो सैनिकों को कहते थे जो रथ के दोनों ओर पहिओं के साथ रहकर दोनों ओर के हमले से रथी का बचाव करते थे। महाभारत में परिस्कन्द नामक परिचारकों को चक्ररक्ष कहा गया है।

प्राध्वं बन्धन-

गाड़ी और रथों को बनाने में सबसे अन्तिम प्रक्रिया वह थी जिसमे उनहे रस्सी या डोरियों से कसा जाता था। वह गाड़ी तब तक काम के योग्य अर्थात् मार्ग में चलने लायक न समझी जाती थी जबतक उसे रस्सियों से कसा न जाय। सग्गड या लढ़िया गाडी के ढाँच और जुए को बरहा नामक मोटी रस्सी से कसकर बाँधते हैं और रथ को इसी प्रकार सूत की जन्दनी नामक डोरियों से बहुत सफाई के साथ कसते हैं। कसकर बाँधने की अन्तिम प्रक्रिया से ही वाहन मार्ग में चलने योग्य बनाया जाता है। चाहे सारी गाड़ी या मढ़ा हुआ रथ तैयार हो किन्तु बन्धन के बिना वह प्राध्व नहीं होता। मार्ग में चलने योग्य रथ या गाड़ी को प्राध्व कहा जाता था।

द्वादश परिच्छेद

भारवाही पशु

वैदिक काल में रथ या गाड़ी में जुतकर उसे खींचने वाले वोढ़ा पशु को पत्र और जोतने योग्य पशु को युग्म कहा जाता था। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करने वाले बैलो का वर्गीकरण किया गया है-

(1) रथ्य, रथ के बैल ये सवारी के बैल बड़े चंचल होते थे।
(2) शाकट, छकड़ा या सग्गड़ खींचने वाले बैल। ये लादने के बैल धुरन्धर या तगड़ी जाति के होते थे। भाष्य कार ने लिखा है कि- वह अच्छा बैल है जो गाड़ी खींचे पर वह और भी बढ़िया है जो गाड़ी और हल दोनों खींचता हो।

"गौश्यं यः शकटं वहति गोतरोऽयं यः शकटं वहतिः सीरं च।"

(3) हालकि और सैरिक, हल के बैल किसान के जीवन में इन शब्दों की बराबर आवश्कता पड़ती थी क्योंकि जैसा कि अर्थशास्त्र में विस्तार से उल्लेख है सवारी के बैल और लादने के बैलों की टहल और रातिब में भेद होता था।

कुछ बैल जुए में दोनों ओर जोते जाते हैं उन्हें सर्वधुरीण कहते थे। यहाँ धुरा गाड़ी के उस अगले भाग के लिए है जिस पर बैलवान बैठकर बैल हांकता था। पर कुछ बैल ऐसे होते हैं जो धरे के एक ओर ही जोते जा सकते हैं। उन्हें एक धुरीण कहा जाता था।

आजकल दाहिनी ओर के बैल को 'उपराल' और बांई ओर के बैल को तरवाल कहते हैं। कभी-कभी दो बैलों के अतिरिक्त एक तीसरा बैल भी आगे जोता जाता है, जो बीढ़िया कहलाता है। वैदिक भाषा में उसे पुष्टि कहा जाता था। जिस रथ में पुष्टि जुता हो उसे पुष्टि वाहन या पुष्टि वाही रथ कहते थे।

आश्वीन-

एक घोड़ा एक दिन में जितनी यात्रा करता था वह दूरी आश्वीन कहलाती थी। अथर्ववेद में उ योजन और 5 योजन के बाद आश्वीन का उल्लेख है।

"यत् धावसि त्रियोजन पञ्चयोजनमाश्विनम्।"
{अथर्व- 6/131/3}

अर्थशास्त्र में आर्श्वान की लम्बाई का निश्चय किया गया है, क्योंकि सरकारी नौकरों के भत्ते आदि के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती थी। जिसकी तालिका इस प्रकार है।

अश्व का प्रकार	पृष्ठ वाह्य = सवारी के घोड़े	रथ्य = रथ के घोड़े
अधम	पाँच योजन (25।। मील)	6 योजन (31 मील)
मध्यम	आट योजन (41 मील)	9 योजन (46 मील)
उत्तम	दस योजन (51 मील)	12 योजन (61 मील)

इस प्रकार अर्थशास्त्र में मामूली सवारी के घोड़े की एक दिन की दूरी पाँच योजन और वाहक छह योजन कही गयी है।

त्रयोदश परिच्छेद

नौ सन्तरण

शतपथ काल में समुद्र तथा महानदियों का उल्लेख आया है। उसके अनुसार द्वीप दो प्रकार के होते थे, एक वे जो किनारे के पास हों, और दूसरा वह जो बीच समुद्र में हो। अनुसमुद्र द्वीप से जो तिजारती सामान लाया जाय वह द्वैप्य और बीच समुद्र या समुद्र पार के द्वीपों से लाया जाय वह द्वैप या द्वैपक कहलाता था। ऐसे द्वीपों से व्यापार करने वाले व्यापारी भी इन्हीं नामों से अभिहित थे। द्वैप शब्द का उत्तम प्रयोग माघ के इस श्लोक से प्रदर्शित होता है-

"विक्रीय दिश्यानि धनान्यरुणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीपु तत्रत्यमफल्गु भाण्गु भाण्डं, सांयंत्रिका नावपतोऽभ्यनन्दत्।।"
{माघ- 3/76}

इसमें द्वैप्य उन सांयात्रिक व्यापारियों के लिए आया है कि द्वारका के पास के समुद्र वाले द्वीपों के साथ वाणिज्य करते थे।

पानी में चलने वाले वाहनों को उदक-वाहन या उदवाहन कहा गया है। नाव, डांड, और मल्लाह इन तीनों का उल्लेख भी आया है। जहाँ नाव लगती है ऐसे घाट को नाव्य कहा जाता है। इसे ही पाली में नावतित्थ कहा गया है। सिन्धु नदी में नाव का घाट था। जिसे वहाँ से प्राप्त एक शिला लेख में शल-नो-क्रम कहा गया है। उस स्थान पर साल में आठ महीने तक अब भी सिन्धु नदी में नाव का पुल लगता है।

नावों के व्यापार में व्यापारी बहुत से पटेलों में माल लाद कर उसे बेचते हुए और उसकी जगह नया माल खरीदते हुए चलते थे। उदाहरणार्थ यदि किसी माल धनी ने सौ नावें लादी हों और मार्ग में दस नावो में भरा हुआ माल देकर बदले में दूसरा माल भर लें तो उसका वह माल 'दशनौ' कहलाता था।

भस्त्रा-

भस्त्रा का लोक में अर्थ लोहार की धौकनी है किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ पशु की फुलाई गयी खाल से लिया जाता था। इसी कारण भस्त्रा उस प्रकार के बजरे को कहते थे जो भेड़ बकरी या उससे बड़ी खालों को हवा से फुलाकर और एक दूसरे में बाँधकर बनाया जाता था।

पजाब, उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान की पहाड़ी नदियों में यही नदी पार करने का सबसे सुरक्षित और क्षिप्र उपाय है। बकरे की खाल को सीकर जक बनाते हैं, जिनका एक पैर हवा भरने के लिए खुला छोड़ रखते हैं। इन फुलाई हुई खालों के ऊपर बांस बांधकर या मछुओं जाल फैलाकर एक साथ बाध लेते है और यात्री उन्हीं पर बैठ कर आठ मील फ्री घण्टे की रफ्तार से मजे में यात्रा करते हैं। पंजाब में दो बैलो की फुलाई हुई खालो पर चारपाई बिछाकर बैठ जाते है। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधाजनक रहते हैं। जैसे ही यात्री ठिकाने पर पहुँच जाते हैं, मल्लाह खालों को पटका कर कन्धे पर डाल लेता है, और नदी के किनारे पैदल चलता उजानी लौट आता है। भारत वर्ष में और उसके पड़ोसी देश प्राचीन ईरान में भी इस प्रकार के बजरों की प्रथा थी। इस प्रकार ज्ञात होता है कि तिब्बत की नदियों से लेकर सारे पश्चिमी भारत में एवं अफगानिस्तान से लेकर ईरान की तिग्रा-उफ्रातु नदियो तक भस्त्रा या मश्का से नदी पार करने या माल ढोने की प्रथा थी और उनके मल्लाह भस्त्रिक कहलाते थे।

पिटक-

उडुप, उत्पथ और पिटक आदि नावों के नाम थे। जो संभवतः लकड़ी के लट्ठों या बांस के मुट्ठों को बाँधकर बनाया जाता था, जिसे भरड़ा कहते हैं। पिटक भी एक तरह की नाव थी जिसकी पहचान लोक में मिल गई हैं।

जगाधरी की तरफ यमुना में अभी तक पिटक चलते हैं, जिन्हें वहाँ पिड़क कहा जाता है। घड़ो को उलटकर उनकी गर्दन में बांस बाँधकर ऊपर चारपाई बिछाकर पिड़क बनाए जाते हैं। इसे ही कहीं-कहीं घरनई या घण्डेल भी कहते हैं। वाल्मीकि रामायण में लट्ठों को बाँधकर बनाए हुए प्लव या बजरे का उल्लेख है, जिसे संघाट कहा गया है।

उडुप एक आदमी से चलाई जाने वाली छोटी डोंगी जान पड़ती है।

मल्लिनाथ ने सज्जनकोश का प्रमाण देते हुए उडुप को चर्मावनद्ध यानपात्र कहा है।

"चर्मावनद्धमुडुप्लवः काष्ठं करण्डवत्।"

इससे ज्ञात होता है कि चमड़े मे मढ़ी हुई छोटी गोल डोंगी उडुप कहलाती थीं।

चतुर्दश परिच्छेद

क्रीड़ा तथा मनोविनोद

प्राचीन काल में क्रीड़ाओ का संकेत या उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है-

(1) मल्ल युद्ध
(2) प्रहरण क्रीड़ा
(3) मृगया
(4) उद्यान क्रीड़ा
(5) अक्षक्रीडा
(6) समज्या या गोष्ठियां।

खेल के लिए प्राचीन काल से ही क्रीड़ा शब्द प्रयुक्त होने लगा था। खिलाड़ी आक्रीड़ी कहलाता था। क्रीड़ा के विविध अंगो के लिए अनुक्रीड़ा, संक्रीड़ा, परिक्रीड़ा, आक्रीड़ा आदि शब्द प्रचलित थे।

मल्लयुद्ध-

पतञ्जलि ने मल्ल और मुष्टिक के संग्रह का उल्लेख किया है। कुश्ती का आरम्भ दो मल्लों की परस्पर ललकार से होता है जिसके उत्तर में वे दोनों आपस में लपट करने लगते है। इसके लिए "मल्लो मल्लमाह्वयते" इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था।

प्रहरण क्रीड़ा-

प्राचीन काल में शस्त्रों की क्रीड़ा के लिए अखाड़े में उतरने की प्रथा थी। महाभारत में द्राणाचार्य ने राजकुमारों की शस्त्र परीक्षा के लिए ऐसे ही अखाड़े का आयोजन किया था। क्रीड़ा का नाम उस प्रहरण या आयुध के नाम से पड़ता था जिसे लेकर क्रीड़ा की जाती थी, अर्थात् जिसके कौशल का प्रदर्शन किया जाता था। सरभग जातक में धनुषवाण वहुत से खेलों का वर्णन है। जैसे- सरलट्ठि, सररज्जु आदि।

उद्यान क्रीड़ा-

भारतवर्ष के पूर्वी भाग में अनेक प्रकार की उद्यान क्रीड़ाएं अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थीं। इस देश के साहित्य में दो प्रकार की क्रीड़ाओं की परम्परा

जातक कहानियो से लेकर मध्यकाल कालीन काव्यों तक पायी जाती है, एक उद्यान या प्राच्य क्रीडा और दूसरा सलिल क्रीड़ा। मनन्नजातक मे उल्लेख है कि वाराणसी के सेट की "दिट्टमंगल्लिका" नाम की दुहिता महीने दो महीने पर अपनी सखियों को लेकर उद्यान क्रीड़ा के लिए जाया करती थी।

"तदावाराासिसेट्टिनो धीता दिट्टमंगलिका नाम एक मासद्वेमासवारेन महापरिवारा उय्याकीलिकं गच्छति।"

{जातक- 4/376}

उद्दालक जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का पुरोहित उद्दालक वृक्षों के वगीचे में अपनी गणिका को उद्यानक्रीड़ा के लिए ले जाता था। अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि सभी कवियों ने उद्यानक्रीड़ा और सलिल क्रीड़ाओं का रोचक वर्णन किया है।

मृगया-

शिकारी, मार्गिक चिर्डीमार या वहेलिया, पाक्षिक या शाकुनिक कहलाता था। मृगों में न केवल हिरन वल्कि सुअर आदि बड़े जंगली जानवरो की भी गिनती होती थी। वहेलियों का नाम उन पक्षियो से पडता था जिन्हें वे फँसाकर वेचते थे, जैसे मायूरिक, तैन्तिरिक। शिकार ऐसे वाणों से किया जाता था, जिनमें पीछे दोनों ओर पत्र या आँकुड़नुमा काँटे लगे रहते थे। साधारण वाण की अपेक्षा सपत्र वाणों के लगने से पशु को वहुत व्यथा होती थी।

सपत्र वाणो का प्रयोग युद्ध में भी किया जाता था। जव सिकन्दर का वार्हीक देश के निवासी मालवों से हुआ तो मालवों ने सपत्र वाण छोड़ा जो सिकन्दर के पीठ में घुस गया। उस बाण से लगभग उसका प्राण ही ले डाला था।

"प्लूटार्क ने लिखा है कि उस वाण में जो पत्र या कांटा लगा था वह पाँच अंगुल लम्वा और चार अंगुल चौड़ा था।"

शेर आदि जंगल के वड़े शिकारी जानवर दिनभर मांद में पड़े रहते हैं, और शाम या रात को शिकार के लिए वाहर निकलते हैं। उस समय भूखे होने के कारण शिकार की खोज में वे कुपित होकर दहाड़ते हैं।

इसी प्रकार मछली पकड़ने वाले मछुओं को मात्सिक या मैनिक कहा जाता था। मछली के नाम से भी उसका नाम पड़ता था। जैसे शाफरिक जो सहरी नाम की छोटी

मछली जाल में फंसाकर बेंचे, शाकुलिक जो शकुल या गौल नामकी मछली पकडे। जाल के लिए आनाय शब्द भी प्रयुक्त होता था।

अक्षक्रीड़ा-

अक्षों के खेलने का उल्लेख ऋग्वेद में ही मिलता है। पासों का खिलाड़ी आक्षिक या शालाकिक कहलाता था। पासे का खेल अक्ष और शलाका से खेला जाता था। आजकल की अपेक्षा पुराने समय मे पासो की सख्या मे भेद था। इस समय दो पासों से खेला जाता है, किन्तु ब्राह्मण युग मे पॉच पासों का यह खेल था।

तैतरीय ब्राह्मण में लिखा है कि खिलाने वाले राजा को पॉच पासें देता है क्योंकि सब इतने ही पासें होते हैं। पांसे के खेल में शकुनि को कृत हस्त कराया गया है, अर्थात् जो सदा जीत का दांव ही फेंकता था।
शकुनि ने कहा कि पासे का खेल बहुत ही शुद्ध और बढ़िया है। हार जीत के दांव के कारण की वह निन्दित मान लिया गया है।

वैदिक साहित्य, जातक, महाभारत, कौटिल्य आदि सब इसमें एक मत हैं कि अक्षद्यूत सभा में खेला जाता था। सभा अवश्य ही कोई सार्वजनिक या राजकीय स्थान होना चाहिए।

समज्या या गोष्ठियॉ-

समज्या वे विशेष प्रकार की गोष्ठियॉं थीं, जिसमें स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध एकत्र होकर अनेक प्रकार के खेल-तमासे, नृत्य, संगीत, हस्तियुद्ध, मेषयुद्ध, अजायुद्ध, दण्डयुद्ध, मल्लयुद्ध आदि खेल या क्रीड़ाएं करते थे। इन्हें समाज भी कहा जाता था। अशोक के अभिलेखों में समाज नामक उत्सवों के विषय में लिखा है के अच्छे और बुरे दो प्रकार के समाज होते थे।

धृतराष्ट ने पाण्डवों को यही भुलावा देकर वारणावत भेजा था कि वहाँ एक समाजोत्सव होने को है, तुम लोग उसे जाकर देखो। समज्या या समाज महाजनपद युग के नागरिक जीवन की बहुत बड़ी विशेषता थी। महाभारत में द्रौपदी के स्वयंबर के अवसर पर द्रुपद के जो समाज किया था, उसे भी समवाय कहा गया है।

पंचदश परिच्छेद

संगीत

संगीत और वाद्यकर्म को वैदिक युग में शिल्प माना जाता था जिसे अब ललित कला का पद दिया जाता है, न केवल मड्डुक, झर्झर जैसे बाजों का बजाना शिल्प है, बल्कि नृत्य और गायन को भी शिल्प कहा गया है।

अर्थशास्त्र में भी गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य को संगीत का अंग माना गया है। अभिनय के लिए नाट्य शब्द अस्तित्व में आचुका था।

तूर्यांग-

वृन्दवाद्य के लिए तूर्य शब्द आया है। तूर्य में भाग लेने वाले तूर्यांग कहलाते थे। वृन्दवाद्य के लिए दो मिलते हुए बाजों की जोड़ मिलाई जाती थीं, जैसे- मृदंग और पणव साथ बजाने वालों की जुट को "मार्दंगिक- पाण विक्रम" कहते थे।

सम्मद-

भरहुत स्तूप के एक शिलावट पर अंकित दृश्य को सम्मद कहा गया है, जिसमें गीत और वाद्य के साथ सदृक प्रयोग दिखाया गया है। इस दृश्य में कुछ गाने वाले हैं, चार स्त्रियां नृत्य कर रहीं है और एक वृन्दवाद्य या तूर्य है जिसमें वीणावादिनी स्त्री, [illegible], माड्डुक्कि और झार्झरिक अकित किए गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि सम्मद विशेष उत्सव का प्रकार था जिसमें नृत्य गीत और वादित्र का सहयोग रहता था।

वाद्य-

तंत्री वाद्यों में वीणा का उल्लेख हुआ है। गाने के लिए वीणा के विना गायन अपर्वीणं कहलाता था। वीणा के तारों से उत्पन्न स्वर लहरी निक्वण या निक्वाण कहलाती थीं।

षष्ठदश परिच्छेद

काल विभाग

दिन का परिमाण सूर्योदय से सूर्यास्त तक या मध्यरात्रि से मध्य रात्रि तक माना जाय? वर्तमान किस क्षण समाप्त होता है और भविष्य कहाँ से आरम्भ होता है? अद्यतन क्या है? कितना समय बीतने पर परोक्ष माना जाय? इस प्रकार की ऊहापोह पुराने समय के विद्वानो के लिए सिरदर्द थी। भाष्य ने बाल के खाल खींचने वाले कालविद् शाब्दिको की कुछ बानगी दी है।

> अपर आह, नास्ति वर्तमान. काल इति। अपि चात्र श्लोकनुदाहरति
> न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्पयन्दते सरितः सागराय।
> कूटस्थोऽयं लोको न विचेष्टिताऽस्ति योह्वे वं पश्यति सोऽप्यनन्धः।।
> अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानमिति त्रयम्।
> सर्वत्र च गतिर्नास्ति गच्छतीति किमुच्यते।।
> अपर आह, अस्ति वर्तमानः काल इति। आदित्यगतिवन्नोपलभ्यते।।
> {भाष्य- 3/2/123}

किसी का मत था वर्तमान काल कुछ नहीं, दूसरे कहते हैं वर्तमान काल है, अवश्य पर उसका भाव अति सूक्ष्म होने से अनुमान से ही जाना जा सकता है। जन्म होते ही प्रत्येक व्यक्ति काल रूपी परिमाण की नाप में आने लगता है। इसी आधार पर उसे द्वयहजात, त्रहजात, मासजात, संवत्सर आदि कहा जाता है। एक नक्षत्र में जन्म लेने वाले कई व्यक्ति सज्योति कहलाते थे। विधुन्तुद शब्द राहु द्वारा चन्द्रग्रहण की कथा की ओर संकेत करता है। जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में है।

{ताण्ड्य ब्राह्मण- 6/6/8}

अहोरात्र-

अहरोत्र को इकाई मानकर काल गणना की जाती थी। नक्तन्दिव, रात्रिन्दिव शब्द फ्लीट के मत में कुछ विचित्र से लगते हैं, क्योंकि भारतवर्ष में दिन की गणना सूर्योदय से की जाती है, जिसमें दिन के बाद रात्रि का स्थान है। सम्भवतः सन्धि की सुविधा के लिए नक्त और रात्रि का पूर्व निपात इन शब्दो में हुआ हो। कीथ का मत है कि ये दोनों शब्द उस प्राचीन काल में बन चुके थे जब अहोरात्र का परिमाण सूर्यास्त से निश्चित किया जाता था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि तीस मुहूर्त के दिन-रात में पन्द्रह मुहूर्त का दिन और पन्द्रह

मुहूर्त की रात्रि होती थी। यह स्थिति चैत्र और आश्विन में आती है। पर अयनों के कारण रात और दिन तीन मुहूर्त तक घटते बढ़ते हैं। ग्रीष्म में तीन मुहूर्त तक दिन की वृद्धि और जाड़े मे तीन मुहूर्त तक रात की वृद्धि इन्हीं छह मुहूर्तों का नाम चराचर मुहूर्त था।

मास-

मास के पक्षों में पक्षान्त की तिथि अमावस्या और पौर्णमासी कहलाती थी। पक्ष का प्रथम दिन पक्षति कहा गया है।

सावन मास-

सावन मास के पन्द्रहवें और तीसवें दिन के लिए अर्धमासतम् और मासतम् इन दो विशेष शब्दों का प्रचलन हुआ, जिनका वैदिक काल में उल्लेक आया है। वेतनिक लोगों के वेतन के निर्धारण के लिए और भुगतान के लिए तीस दिन के मास की व्यवहारिक आवश्यकता थी।

चन्द्रमास-

अमावस्या और पौर्णमासी इन दो पक्षों से बनने वाला चन्द्रमास वैदिक काल का आधार हैं। ज्ञात होता है कि शतपथ काल में पूर्णिमा के दिन चन्द्रमास की समाप्ति मानी जाती थी। यह इसी बात से सूचित है कि मास का नाम उसमें होने वाली पौर्णमासी से माना जाता था।

नक्षत्र-

नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति न+क्षत्र है। शतपथ ब्राह्मणों में भी यही है {2/1/2/18}। नक्षत्र इसीलिए कहे जाते हैं क्योंकि सूर्य उदित होते ही उनके क्षत्र या ज्योति को हर लेता है। दूसरी व्युत्पत्ति "नक्षं-गतौ" से मानी जाती थी।

"यो वा इह यजते, अमुं सलोकं नक्षते तन्नक्षत्राणांनक्षत्रत्वम्"
{तै0ब्रा0- 1/5/2/5}

निरुक्त मे शतपथ को उद्घृत करते हुए भी दूसरी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया गया है।

"नक्षतेर्गतिकर्मणः।"
{निरुक्त- 3/20}

ऋतु और वर्ष-

वर्ष, समा, संवत्सर, हायन शब्द सवत्सर के लिए प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र मे पाँच वर्षों के युग का उल्लेख है, जिसमें हर एक वर्ष का अलग-अलग नाम होता था। वर्ष के विभागो मे दो षण्मास माने जाते हैं।

इसी क्रम में ऋतुओं के नामों का उल्लेख है- वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर प्रत्येक ऋतु दो मास की होती थी। पहिला महीना पूर्व और दूसरा अपर कहलाता था। जैसे वर्षा ऋतु के पहले मास के लिए पूर्ववार्षिक तथा दूसरे के लिए अपरवार्षिक प्रयोग थे। अर्थशास्त्र में भी उत्तरायण भाष्य की तरह शिशिर से ही आरम्भ माना है और माघ, फाल्गुन उसके महीने कहे गये हैं।

सप्तदश परिच्छेद

मनुष्य नाम

मनुष्य नाम और स्थान नाम ये नामों के दो बडे समूह हैं। दोनो मनुष्यों की भाषा के अंग हैं और दोनो मे ही मनुष्य के भूताकलीन इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। पश्चिमी देशो में स्थानीय नामों का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है, जिससे जातीयों की भाषा, प्रसार और रहन-सहन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारतीय स्थान नामों का अध्ययन भी उतना ही महत्वपूर्ण सिद्ध होगा क्योंकि मुंडारी भाषा, द्रविण भाषा, आर्य भाषा और म्लेच्छ परिवार की भाषाओं ने स्थान नामो की रचना में भाग लिया है। किन्तु अब हम केवल मनुष्य नामों का उल्लेख कर रहे है, जो इस प्रकार हैं-

भारतीय मनुष्य नामों का इतिहास वैदिक काल से आरम्भ होता है। जिसका क्रम इस प्रकार से है-

(1) ऋग्वैदिक नाम।
(2) ब्राह्मण कालीन या उत्तर वैदिक नाम।
(3) बौद्ध कालीन नाम।
(4) मौर्य, शुंग और कुषाण कालीन नाम।
(5) गुप्त कालीन और संस्कृत साहित्यगत् नाम।
(6) अपभ्रंस भाषा, प्राकृतिक और संस्कृत से प्राप्त मध्य कालीन नाम।
(7) आधुनिक नाम।

इस प्रकार भारतीय मनुष्य नामों का अध्ययन प्रत्येक योग सांस्कृतिक इतिहास का ही एक टुकड़ा है। भाषा और धार्मिक एवं सामाजिक विस्वासों के अनुसार माता-पिता वालक का नाम रखते हैं। नाम प्रत्येक मनुष्य के लिए वहुत ही प्रिय वन जाता है। प्रत्येक के जीवन में वह सबसे अधिक व्यवहार में आने वाला शब्द होता है। अतएव नामों में एक प्रकार की जातीय और वैयक्तिक सुरुचि, आस्था और संस्कृति की छाप पायी जाती है।

चरक के अनुसार नाम दो प्रकार के होते हैं। नाक्षत्रिक नाम और अभिप्रायिक नाम। वालक का जन्म जिस नक्षत्र में होता है उसके अनुसार रखा हुआ नाम नाक्षत्रिक कहलाता है।

(नक्षत्रदेवतासमानाख्यं) जैसे स्वाति नक्षत्र से स्वातिक्त जिसका छोटा रूप स्वातिल होगा। इसी प्रकार अभिप्रायिक नाम को ही पुकारने का सच्चा नाम कहना चाहिये, जैसे- यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि।

ऋग्वेद के समय अधिकाश नाम केवल अभिप्रायिक थे। उनके साथ पिता से प्राप्त होने वाला पैतृक नाम भी जुड़ा रहता था, जैसे मेधातिथि कण्व। कालांतर में गोत्रनाम की प्रवृति बहुत बढ़ गई। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के समय में जितने नाम मिलते हैं उनमें गोत्र नाम का रिवाज बहुत अधिक था।

उस काल में एक दूसरे प्रकार के नाम की भी काफी प्रथा प्रचलित थी। जैसे आज जयपुर के निवासी जयपुरिया और खण्डाला गांव के पारसी अपने को खण्डालवाला तथा तारापुर के निवासी तारापुरवाला कहत हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि स्थानवाची नामों का महत्व भी उस काल में प्रचलित था। स्थान के नाम के कारण जो व्यक्ति का नाम पड़ता था उसके दो कारण हैं। स्वय मथुरा में रहने के कारण भी "माथुर" और पूर्वजों के यहाँ रहने के कारण 'माथुर' विशेषण व्यक्ति के नामों के आगें जोड़ा जाता था। यही स्वाभाविक प्रथा लोक में आज तक देखी जाती है। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान से हट कर जब दूसरी जगह जाता है या बसता है, तब वह स्वयं पहले स्थान के नाम से पुकारा जाता है और उसकी संताने भी उसी के नाम को जारी रखती हैं। जो स्वयं जयपुर में रहा हो या रहता हो वह जयपुरिया कहलाता है, और जिसके पूर्वज वहाँ रहे हो, वह भी 'जयपुरिया' कहलायेगा।

शतपथ काल में कुछ धार्मिक परिवर्तन समाज में आ चुका था। इन्द्रदत्त, वरूणदत्त, देवदत्त जैसे नाम उसी अवस्था में संभव हुए। एक ओर तो पुराने वैदिक देवताओं की भक्ति की ओर जनता का ध्यान था और यज्ञ के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी लोग उन्हें प्रसन्न करने का उपचार करने लगे थे, दूसरी ओर नक्षत्रों के अधिपति अथवा दिशाओं के अधिपति लोकपालों को देवता का पद प्राप्त हो रहा था। पाली साहित्य में "चातु महाराजि" (चार लोकपाल देवताओं की) भक्ति का प्रायः उल्लेख आता है। यह "महराज" कुवेर का ही नाम था जो लोकपालों और यक्षों में बड़े समझे जाते थे। संस्कृत साहित्य में कुवेर को इसीलिए 'राज-राज' कहा गया है।

"अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।"
{1/3, मेघदूत}
"राजानो यक्षाः राज्ञां राजा राजराजा कुबेरः।"
{राजराज परमल्लिनाथ की टीका}

बुद्ध के उदय से पहले ही लोक में यक्षों और कुबेरों की मान्यता प्रचलित हो गयी थी और वह बराबर बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म ने यज्ञ पूजा के साथ की बड़ी भलमनसाहत का समझौता किया और जनता के जये हुए विश्वासों के साथ धक्का-मुक्की करने के बदले उन्हें अपना कर उनके कन्धों पर अपने लिए आदर का स्थान बना लिया।

धर्म की छाप नामों पर अवश्य पड़ती है। देवताओं के नाम मनुष्यों के नामों में घुल मिल जाते हैं और पुरातत्व की सामग्री की तरह बचे रह जाते है। षष्टिदत्त नाम गुप्तकाल की मुहरों पर बचा हुआ एक सकेत है जो उस युग में अत्यन्त प्रिय षष्ठी देवी की पूजा की सूचना देता है। मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षों को जिस युग में लोग पूजते थे उसी युग में उनके भक्त अपने पुत्रों के नाम भी मणिभद्रगुप्त या मणिभद्रदत्त रखने की बात सोच सकते थे।

यद्यपि ईसाई धर्म ने इंगलिस्तान के पुराने धर्मों और विश्वासों को उखाड़ डाला, परन्तु फिर भी पुराने देवी-देवताओ और पहाड़ नदी नालों को पवित्र रखने वाले छुटभैए थे, प्राचीन अंग्रेजी नामों में अभी तक बचे पड़े हैं। यही सत्य अन्य जातियों और देशों मे भी चरितार्थ होता है। प्राचीन भारतीय मनुष्य नाम और स्थान नामों की पड़ताल करने से मुंडा, शवर, द्रविड़ आदि जातियों के देवी देवताओं का कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा।

वेद मनुष्य जो जातिवाचक शब्दों के लिए गए हों, जैसे- व्याघ्रक, हिंसक। वैदिक काल मे व्याघ्र, सिंह ऋक्ष, वराह, कुंम्जर आदि पशु मनुष्य के बलवीर्यादि के लिए उपमान मान लिए गये थे।

"पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्र: पुरुषसिंहः।"

सिंहों का पैदल शिकार करना हाथ में तलवार लेकर व्याघ्र या सिंह के मुकाबले में अकेले डट जाना, इस प्रकार के विनोद और आखेटों का समाज में काफी प्रचार हो चुका था। सिंह शब्द का भारतीय नामों पर बहुत प्रभाव पड़ा। वस्तुतः इस शब्द में भारतीय नामों के उत्तरपद में जो स्थान प्राप्त किया है, वह अन्य किसी शब्द को नहीं मिला। आज भी राजस्थान और पंजाब के प्राय: शतपतिशत नाम सिंहात सुने जाते हैं। शुंगकालीन ब्राहनी लेखों में सिंह से निकले हुए नाम इस प्रकार मिलते हैं।

सीह, सिहा, सीहा, सिंहदत्त, सीहदेव, सिहक, सिह, सिह मित्र, सिहनादिक, सिहरखित, सीहरखित आदि।

इस प्रकार अब हम देखते है कि नामों को छोटा करने की प्रवृत्ति में सब तरह की छूट दे दी गयी थी, किन्तु वैदिक काल में यह प्रथा नहीं थी, अथवा उसका साहित्यिक प्रमाण नहीं पाया जाता। उस काल में नामों को संक्षिप्त करने की एक विशेष प्रक्रिया थी। यह प्रक्रिया भारतीय नामो के साथ सदा के लिए जुड़ गयी। कालांतर मे भी प्यार का नाम बनाने के लिए संक्षेप विधि से काम लिया जाता रहा। मध्यकाल में इसका बड़ा प्रचलन था। आज भी गाँवो के अधिकाश नाम भाषा की दृष्टि से अपभ्रश का चोला पहने हुए है।

अष्टदश परिच्छेद

मानव आयु

"शतायुर्वै पुरुषः।" कौ0ब्रा0- 11/7।।

अर्थात मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है।

"अपि हि भूयां सि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति।"
श0 ब्रा0- 1/9/3/19।।

अर्थात् सौ वर्ष से भी बहुत अधिक पुरुष जीता है।

पूर्ण आयु भोगने के उपाय-

पूर्ण आयु भोगने के जो उपाय ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गये हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

(1) मर्त्याः पितराः पुरा हायुषो म्रियते योऽनुदिते मन्थम्यप

"हतपाप्मानो देवा अप पाप्मानं हतेऽमृता देवा नामृतत्व स्याशास्ति सर्वेमायुरेति।।"
श0 ब्रा0- 2/1/4/9

अर्थात् रात्रियॉं = पितर मरणधर्मा हैं। (पूरी) आयु से पहले मर जाता है। जो सूर्योदय से पहल अग्नि मन्थन करता है। दिनों = देवों ने अपने अन्दर से (सूर्य द्वारा) पाप का नाश कर दिया है, (जो सूर्योदय के पश्चात अग्निमन्थन) करता है। वह पाप का नाश करता है। दिन अमृत है (सूर्योदय के पश्चात अग्नि मन्थन करने वाले को यद्यपि) अमृत की आशा नहीं है (पर वह) पूरी आयु को प्राप्त करता है।

(2) "नैव देवा अतिक्रामन्ति। न पितरो न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यत्यशुभेमेद्यति। विहूर्छति हि न ह्ययनाय च न भवत्यनृतं कि कृत्वा मेद्यति। तस्मादुशायप्रातराश्येवस्यात्स यो हैवं विद्वान्सायं प्रातीराशी भवति सर्वे हैवायुरेति।।"

अर्थात् अग्नि, वायु, रश्मियाँ, दिन आदि देव (प्रजापति परमात्मा के बनाये नियमों का) अतिक्रमण नहीं करते। ऋतु, रात्रि आदि पितर भी (ऐसा) नहीं (करते) नहीं पशु। मनुष्य ही उल्लंघन करते है। इसलिए मनुष्यों में जो मांस बढ़ाता है (बहुत मोटा हो जाता है) वह लड़खड़ाता है, चलने योग्य नहीं रहता है। अनृत करके (अनेक बार खाकर) वह मोटा होता है। इसलिए साय प्रातः (दो काल) खाने वाला की खावें। इस प्रकार जो विद्वान् सायं प्रातः खाने वाल होता है, सारी ही (सौ वर्ष की) आयु प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय है कि स्वस्थ पुरुष को सायं, प्रातः दो काल खाना चाहिए। इतना मोटापा शरीर में बढ़ने नहीं देना चाहिये, जिससे चलना, दौड़ना आदि भी कठिन हो जाए।

(3) "साय प्रातर्वै मनुष्याणां देवहित मशन।"
मै0 स0- 3/6/3

(4) "आयुषे कमग्निहोत्रं हूयते। सर्वमायुरेति य एवं वेद।।"
मै0 सं0- 1/9/5।।

अर्थात् आयु के लिए ही अग्निहोत्र की आहुतियॉं दी जाती हैं। सारी आयु प्राप्त करता है जो ऐसा जानता है।

(5) "यो ह वै देवानामायुष्मतश्चायुष्कृतश्च वेद
सर्वमायुरेति न पुरायुषः प्रमीयते।"
मै0 सं0- 2/3/5

अर्थात् निश्चय ही जो अग्नि वायु आदि देवो को आयु वाला और आयु देने वाला जानता है सारी आयु को प्राप्त करता है। पूरी आयु से पहले नहीं मरता। इससे आगे कहा है।

(6) "एते वै देवा आयुष्मन्तश्चायुष्कृतश्च यदि में प्राणाः।।"

अर्थात् यही देवता आयु वाले और आयु देने वाले हैं। जो ये प्राण हैं। इसका अभिप्राय यही है कि पुरुष प्राणायाम आदि करके भी अपनी आयु को बढ़ावें।

(7) "जरा वै देवहितमायुस्तावतीर्हि समा जीवति।
आयुषा वा एष वीर्येण व्यृध्यते योऽग्निमुत्सादयते।
शतायुर्वै पुरुषश्शतवीर्यं आयुवीर्य हिरण्यं शतमानं
ददात्यायुरेव वर्य पुनरालभते।"

का0 स0- 9/2।।

अर्थात् बुढ़ापा देवों मे रखा हुआ आयु है, उतने की वर्ष जीता है। आयु से और वीर्य से वह नष्ट होता है। जो अग्नि को बुझाता है। सौ वर्ष की आयु वाला पुरुष है, और सौ प्रकार के बल वाला, आयु बल हिरण्य (एक ही है) जो सुवर्ण सौ मान वाला (सौसुवर्ण मुद्रा) देता है, आयु और बल ही पुनः प्राप्त करता है।

(8) "पूर्ण गृहणीयाद्य कामयेत सर्वमायुरियादिति पूर्णमेवास्मा [illegible] सर्वमायुरेति।।"

का0 सं0- 28/1।।

अर्थात् पूर्ण ग्रहण करें, जिस की इच्छा करे, सारी आयु प्राप्त करे, पूर्ण की इसके लिए आयु ग्रहण करता है, सारी आयु प्राप्त करता है।

अर्थात् स्वर्ण पर श्वास फेंकता है। आयु की सोना है। आयु से ही अपने आप को तृप्त करता। वैदिक ग्रन्थों में स्वर्ण और आयु का बड़ा सम्वन्ध माना गया है। सोने का दान, सोने का शरीर से स्पर्श यह बहुत कल्याणकारी माने गये हैं।
अथर्ववेद में लिखा है।

(10) "यो विभर्ति दाक्षायगं हिरण्यं य जीवेषु कृणते दीर्घमायुः।"

अथर्ववेद- 1/35/2।।

अर्थात् जो सोना धारण करता है, वह प्राणियों में अपनी आयु लम्बी करता है।

(11) "यं कामयेदायाविनं जीवेदति तं व्यादायाभिव्यन्याद मृतेनैवैनमभिव्यनिति जीवति सर्वमायुरेति न पुरायुषः प्रमीयते।।"

काठक सं0- 37/10

अर्थात् जिस रोगी को चाहे कि वह जीता रहे, उसका मुख खोलकर उस पर श्वास फेंकें। अमृत से ही उस पर श्वास फेंकता है। वह (रोगी) जीता रहता है। सारी आयु प्राप्त करता है। न ही आयु से पहले मरता है।

शतपथ ब्राह्मण के 4/6/1/6 में भी इसका उल्लेख किया गया है।

इन प्रमाणों से निश्चित होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के आचार्य मानव आयु का सौ वर्ष तथा उससे भी अधिक होना बड़ा आवश्यक समझते थे। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख इस प्रकार है।

"स हैष दाक्षायण हस्तः। यद्वात्सप्रं तस्माद्यं जातं कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्तदस्मै जातायायुष्यं करोति तथो ह स सर्वमायुरेत्यथ यं कामयेत वीर्यवान्त्स्यादिति विकृत्यैनं पुरस्तादभियन्त्रयेत तथो ह स वीर्य वान्भवति।।"

श0 ब्रा0- 6/7/4/2

अर्थात् यह जो वात्सप्र है वह स्वर्ण हाथ वाला (अग्नि) ही है। इसलिए यदि किसी प्राणी की दीर्घ आयु करनी हो तो उसे वात्सप्र द्वारा छुयें।

इस प्रकार वह उस उत्पन्न हुए प्राणी के लिए दीर्घ आयु कराता है, और वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। यदि किसी को वार्यवान कराना हो तो उसको विकृति मन्त्रों से अभिमन्त्रण करें, इस प्रकार वह वीर्यवान् बन जाता है।

द्वितीय अध्याय

आर्थिक दशा

आर्थिक दशा शीर्षक के अर्न्तगत शतपथ ब्राह्मण में पर्याप्त मात्रा में उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है।

परिच्छेद प्रथम

कृषि

वार्ताशास्त्र का सम्बन्ध कृषि, वाणिज्य, पशुपाल्य आदि मनुष्यों की जीविका के साधन या वृत्तियों से है। जनपदों में फेले हुए आर्थिक जीवन के इस ताने वाने के लिए जानपदी वृत्ति यह सुन्दर शब्द प्रचलित था। इस जानपदी वृत्ति का उल्लेख यास्क ने इस प्रकार किया है-

"जानपदीषु विद्यात पुरुषो भवति।"
{निरुर्त- 1/16}

अर्थात् जनपद सम्बन्धी वृत्तियों या शिल्पों में कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरुष विशेष समझा जाता है।

खेती के लिए शतपथ में कृषि से सम्बन्धित शब्द पाये जाते थे। मूलरुप में कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना था, जैसा कि महाभारत में भी पाया जाता है।

"पण्यानां शोभनं पण्यं कृषीणां बाद्यते कृषिः।
बहुकारं च सस्यानां ब्राह्ये ब्राह्य तथा गवाम्।।"
{शान्ति पर्व- 186/20}

अर्थात् विक्री का वस्तुओं में वह अच्छी है जो दुकान में रखी है। खेती की सब प्रक्रियाओं में हल चलाना उत्तम कहा जाता है। हरी फसल के लिए निराना उत्तम है। वाहनो में बैल का वाहन बढ़िया है। यहॉ एक ही श्लोक में कृषि के दोनों अर्थ प्रयुक्त हुए हैं।

कात्यायन और पतंञ्जलि में कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है-

कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या हल चलाना नहीं है, वल्कि वीज, वैल एवं कर्मकर आदि के लिए भोजन का प्रवन्ध करना भी कृषि धातु के अन्तंगत हैं।

"नाना क्रिया कृषेरथाः नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्हते। किं तर्हि, प्रतिविधानेऽपि वर्तते यदसौ भक्त बीज बलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः।"
{भाष्य- 3/1/26}

हल्य-

एक हल की जोत के लिए पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी। एक परिवार के भरण पोषण के लिए पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे। इसे ही मध्यकाल में दोहली या डोहली कहने लगे जो भूमि मन्दिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने 'कुल' परिमाण भूमि का उल्लेख किया है।
{मनु0- 7/119}

सीता-

यह शब्द ऋग्वेद और उत्तर कालीन संहिताओं में कृषि के देवता और हल की खूड़ या फाड़ के लिए प्रयुक्त हुआ है। शनैः शनैः पहला अर्थ बिलुप्त हो गया, अर्थशास्त्र में केवल स्थान पर पुराना अर्थ है। कई स्थानों पर सीता का अर्थ विशेष रूप से राजा की भूमि की उपज है।

खेतों की नाप जोख-

किसानों के निजी खेत नाप जोख के आधार पर एक दूसरे से बँटे हुए थे।

"प्रमाण विशेषः काण्डम्।"
{काशिका}

जिसकी लम्बाई सोलह हाथ मानी जाती थी।

"षोडशा रत्न्यायामों दण्डः काण्डम्।"
{बाल मनोरमा}

क्षेत्रकर-

"खेत बनाने वाला" यह उस अधिकारी की संज्ञा थी, जो खेतों की नाप जोख करता था। मेगस्थनीज ने ऐसे राजपुरुषों का उल्लेख किया है, जो भूमि का लगान निश्चित करने, अर्थात बन्दोबस्त के लिए खेतों की नाप जोख करते थे। जातकों मे जिसे रज्जुग्राहक कहा गया है, वही यह हो सकता है।

कृषि कर्म-

शतपथ के अनुसार खेती का पूरा स्वरुप इस प्रकार है। जोतना, बोना, काटना और मणनी करना है।

"कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः मृणन्तः।"
{शत0 1/6/1/3}

प्रत्येक के विषय में सामग्री इस प्रकार है-

(1) जोतना-

जोतने के लिए कृषतिधातु थी। आज कल हिन्दी में काढ़ना, खैंचना, दोनों कृया जोतने के अर्थ में व्यवह्रत होती है। भाष्य में लिखा है कि किस प्रकार खेत का स्वामी एक ओर बैठा रहता है और उसके मजदूर पॉच-पॉच हलों से उसके लिए खेत जोतते थे।

"एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते पंचभिर्हलैः कृषतीति।
तत्र भवतिव्यं पंचभिहलैः कर्षयतीति।"
{3/1/26, वा0 3}

खेतिहर मजदूरों को खेत का स्वामी उचित समय पर भोजन देता है।

यूनानी लेखक भारत में आने पर यहॉ की भूमि की उपजाऊ शक्ति और किसानों के कौशल को देखकर स्तब्ध रह गये थे। उन्होंने जुताई के विषय में लोगों की सावधानी का भी उल्लेख किया है।

(2) बोना-

जुताई के बाद खेत बोने लायक हो जाता है, पहले खेत को दो-तीन बाह कर छोड़ देते हैं फिर जब बोने का समय आता है तब जोतकर बीज डालते हैं। जुताई के

लिए धरता बिल्कुल तैयार है तंत पर आ गयी है, बोना आवश्यक हो गया है। किसान मानते हैं कि जैसे ऋतु पर गाय, भैंस हरी होने के लिए आतुर होती हैं, वैसे ही धरती भी। बुआई के कई प्रकार हैं जैसे- बैर, पवेड़ या छींट और चोवली। हल चलाते समय खूंड में बीज गिरता जाय, इसे बैर की बुआई कहते हैं। खेत में बीज छीट कर हल चलाने का नाम पवेड की बुआई है। जोती हुई धरती में बीज को हाथ से गाड़ना चोवली कहलाता है।

कृषि कर्म का सम्बन्ध पृथ्वी माता से है। उसके लिए शुभ मुहूर्त देख कर बुआई की जाती है। कौटिल्य ने भी मूंग, उड़द आदि छीमी धान्य को मध्यवाप अर्थात् सावनी और कातिकी के बीच की बुआई के योग्य माना है।

{अर्थ0-2/23}

(3) कटाई-

जो खेत कटाई या लवनी के लिए बिल्कुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था। लवनी को अभिलाव कहते थे। आजकल खेतिहरों की भाषा में इसे लाव कहते हैं। लाव के समय खेतों में बड़ी चहल-पहल रहती है। कटाई करने वाले लावक, कहलाते थे, जिन्हें आज कल लावा कहते हैं। कटाई शुरु होने को बाड़ लगना माना जाता है। कभी-कभी यह बाड़ एक ओर से न करके छिट-पुट की जाती है जिसे "उपस्किरति" कहते हैं।

"उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, उपस्कारं काश्मीरका ललन्ति।"

{काशिका}

(4) मणनी-

फसल काट कर खलिहान में ले जाते थे। खलिहान के लिए चुना हुआ खेत खल्य कहलाता था। वह पड़ती रखा जाता था। इसीलिए खलीकृत का अर्थ हो गया पड़ती छोड़ा हुआ। मड़नी के बाद अनाज की बरसाई की जाती थी।

वृष्टि-

बरसात को प्रावृष और वर्षा कहा गया है। वर्षा के पूर्वभाग के लिए प्रावृष् विशिष्ट शब्द था। सावन, भादों के महीनों में पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था। वह दो तरह की थी, एक तो जिसमें खेत की खूंडें पानी से लबा लब भर जायँ और सारे खेत में पानी उतिराने लगे-

"सीतापूरं वृष्टों देवः"

दूसरे जिससे खेत में पड़े हुए खुर के निशान मात्र पानी से भरें।

"गोप्पदपूरं वृष्टो देवः।"
{भाष्य- 2/4/33}

कौटिल्य ने जांगल अनूप आदि प्रदेशों में वर्ष प्रमाण का उल्लेख किया है। वृष्टि का न होना या सूखा पड़ जाना (वर्ष प्रतिबन्ध) अवग्रह कहलाता था।

"खेती के अन्य विघ्न, आखूत्थ, शलभोत्थ, श्येनोत्थ चूहे, टिड्डी, वाज आदि से भय।"

मेगस्थ ने लिखा है कि भारत में दो बार वृष्टि और फसलें होती थीं।

सिंचाई-

वैदिक काल में कई वड़ी छोटी नदियों के नाम दिये गये हैं जिनसे सिंचाई होती होगी। भाष्य ने नहर या गूलों से धान के खेत सींचने का उल्लेख किया है। मद्र देश की देविका नदी के तट पर बरसात में छोड़ी हुई रौसली मिट्टी की तह शालि के लिए बहुत अच्छी समझी जाती थी। कुओं से भी सिंचाई होती थी। चरस या मोट का उल्लेख मिलता है। जिसकी आवश्यकता कुएं की सिंचाई में बैलों को जोतने और मोट उठाने के लिए होती है।

फसलें सा सस्य-

फसलें दो प्रकार की होती थी। कृष्टपच्य जो खेती से उत्पन्न हों, अकृष्टपच्य जैसे नीवार आदि जंगली धान। बोने के समय और पकने के समय के आधार पर भी फसलों का नाम पड़ता था। बोने के हिसाब से फसलें तीन प्रकार की होती थीं।

(1) आश्वयुज या आश्विन में बोई गई औसजी।
(2) ग्रीष्म में बोई गई गैष्म या गैष्मक।
(3) बसन्त में बोई गई वासन्त या वासन्तक।

औसजी में जौ गेहूं प्रधान है। जो कार्तिक में बोए जाते हैं, और बसन्त में पकते हैं। बसन्त की बोई फसल बरसात में पकती है। ग्रीष्म में बोई हुई शरद् या अगहन में पकती है।

कौटिल्य में भी ऋतु के अनुसार कई फसल होने का उल्लेख है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है।

खेती की उपज-

वैदिक युग मे धान्यों की उपज का निम्नलिखित उल्लेख है- व्रीहि और शालि के खेत पृथक-पृथक होते थे, जो व्रैहेय और शालेय नामों से पहचाने जाते थे। व्रीहि वरसात में बोया जाने वाला धान था।

शालि-

अर्थशास्त्र में भी शालि को व्रीहि से भिन्न माना गया है। यह उखाड़ कर फिर से रोपा जाता था। शालि की फसल शीत ऋतु में पकती थी।

बाल्मीकि में हेमन्त ऋतु में शालिका का वर्णन इस प्रकार है-

"खर्जूर पुष्पपाकृतिभिः शिरोभिः पूर्ण तंडुलैः।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनक प्रभाः।।"
{अरण्य काण्ड- 16/1}

शालि की अपेक्षा व्रीहि प्राचीन शब्द था। उसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नों मे सबसे पहिला मानते थे।

{यजु0 18/12}

महाव्रीहि-

यह उस युग का प्रसिद्ध धान्य था जिसका उल्लेख तैंतरीय संहिता में भी आया है।

{3/1/5/2}

इसके अतिरिक्त हायन, षष्टिक, नीवार धान्यों का भी उल्लेख है। कात्यायन के अनुसार साठी विशेष चावल का ही नाम था।

इसके अतिरिक्त अन्य धान्यों में जौ, मूँग, माष, तिल, अणु, कुलत्थ आदि का उल्लेख है। यवानी को कात्यायन ने निकृष्ट जौ कहा है।

द्वितीय परिच्छेद

औषधि और वनस्पति

औषधि और वनस्पतियों का उल्लेख शतपथ काल में मिलता है, पुष्प, पत्र फल, मूल आदि के आधार पर औषधियों के नामकरण का जो अध्याय प्राचीन भारत में आरम्भ हुआ था, उसकी भी हल्की सी रेखा इस चित्र में है। औषधि वनस्पतियों के जंगल और वनों का भी उल्लेख आया है।

वन-

इस शब्द के दो अर्थ थे, एक तो प्राकृतिक अरण्य जैसे- पुरगावण, मिश्रकावण और वृक्षों और फलों के जंगल या उद्यान, जैसे- आम्रवण, खदिरवण, इक्षुवण जो सामान्य नाम थे।

वन दो प्रकार के थे-

(1) ओषधि, जैसे- मूर्वावन, मूर्वाविन।
(2) वनस्पति वन, जैसे- शिरीष वन, देवदारुवन।

ओषधि वनस्पति-

वनस्पति जगत के दो विभाग किये गये हैं- ओषधि और वनस्पति। वनस्पति और वृक्ष दोनों एक दूसरे के पर्याय थे। शतपथ में भी पर्ण, पुष्प, फल, मूल के आधार पर ओषधियों के नामकरण के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है।

उदाहरणार्थ-

ओदनपाकी, शुंगकुकर्णी, शालपर्णी, शंखपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली आदि। ये सब जड़ी बूटी और लताओं के नाम थे। फलों के नाम प्रायः वृक्षों के नाम से पड़ता था, जैसे आमलकी वृक्ष का फल आमलक, जम्बू बृक्ष का फल जम्बू।

पुष्प-

कुमुद, पुष्कर, पुष्करादि गण में पद्म, उत्पल, बिस मृणाल पर्यायों का भी उल्लेख है। हरीतक्यादि गण में शेफालिका का नाम है। अर्थात् (पारिजात या हरसिंगार)।

पतंञ्जलि ने उससे रंगे हुए शैफालिक वस्त्र का उल्लेख किया है। पुष्पों के नाम उनके फूलने की ऋतु से रखे जाते थे। जैसे बासन्ती, कुन्दलता आदि।

फल-

वैदिक युग में फल को वृक्षों से सम्बन्धित मानते हैं। किन्तु भाष्य में चावल, जौ, दाल, तिल आदि वार्षिक पौधों की उपज भी उनका फल माना गया है। मनु के ओषधियों को फल पाकान्त कहने का भी यही भाव है। फल वाले वृक्षों को फलेग्रहि कहा जाता था। भाषा के उस नियम की ओर संकेत किया गया है। जिसके अनुसार वृक्ष और उसके फल का नाम प्रायः एक सा होता है।

तृतीय परिच्छेद

पशुओं की दवा

ऊपर भूमि के तत्व को समझने के लिए पशुपद का आधि दैविक अर्थ जानना आवश्यक है। पशु का अर्थ है जो नेत्रेन्द्रिय से देखा जाय अथवा जो 'चतुष्पाद' हो। द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक से उत्पन्न वे कण अथवा पांसु (समूढ़मस्य पांसुरे) ऋ0(1/22/17।।) जो अंधेरी रातों के समय अथवा अन्य किसी प्रकार से देखे जॉय पशु हैं।

(क) (प्रजापतिः) तेषु (पशुषु) एतम् (अग्निम्) अपश्यत्, तस्माद्वैवैते पशवः।
6/2/1/4 ।। श0 ब्रा0

अर्थात् प्रजापति ने इन पशुओं में अग्नि को देखा इसलिए ये पशु हैं।

सम्भवतः इनमें भौतिक अग्नि और सौर अग्नि दोनों का योग है। अग्नि योग से ही ये दृष्टि का विषय बनें। इस प्रकार अन्यत्र भी लिखा है।

(ख) आग्नेयो वाव सर्वः पशुः। ऐ0 ब्रा0 2/6।।

(ग) आग्नेयाः पशवः। तै0 ब्रा0 1/1/4/3।।

अर्थात् पशुओं में अग्नि का योग है।

इसीलिए शतपथ ब्राह्मण 6/4/1/2।। में कहा गया है-

(घ) पृथ्व्यिा उपस्थाद् अग्निं पशब्यम्।।

अर्थात् पृथ्वी के उपस्थ से पशुओं के लिए हितकारी अग्नि को ही पशु कहा है।

(ङ) पशुर्वा अग्निः। अग्नि मुखान् प्रजापतिः पशून सृजत्।
कपिष्ठल- 31/19

अर्थात पशु ही अग्नि है। प्रजापति में अग्निमुख (अग्नि प्रधान) पशुओं को उत्पन्न किया।

(च) "सर्वे पशवो यदग्निः। तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते।"
शा0 ब्रा0- 6/1/4/12।।

अर्थात् सब पशु जो अग्नि हैं। इसलिए अग्नि में पशु रमण करते हैं।

(छ) वायु प्रणेता वै पशवः। श0 ब्रा0- 4/4/1/15।।
(ज) अन्तरिक्ष देवत्याः खलु वै पशवः। तै0 ब्रा0 3/3/1/3।।
(झ) तस्मादन्तरिक्षायतना वै पशवः। श0 ब्रा0 8/3/2/9।।
(ञ) पशवो वै मरुतः। ऐ0 ब्रा0 3/19।।
(ट) पशवो वै वयासि। श0 ब्रा0 9/3/3/7।।

इन सभी पदों का भाव यह है कि अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, मरुत्, तथा वयांसि (पार्थिव पक्षी नहीं) आदि का पशुओं के साथ सम्बन्ध है।
रुद्र भी अन्तरिक्ष स्थानीय हैं। रुद्र का विद्युत के साथ सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष पशु रुद्र से आग्नेय योग प्राप्त करते हैं। इसलिए पशु रुद्र पशुपति कहा जाता है। रुद्र का वाहन आखु भी अन्तरिक्षस्थ पशु है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है।

आखुस्ते (रुद्रस्य) पशुः। 2/6/2/10 श0 ब्रा0।।

(ठ) "दैव्या वा एता विशो यत् पशवः"। श0 ब्रा0 3/7/3/9।।

अर्थात् द्युलोक की प्रजाएँ हैं जो पशु हैं।

अतः स्पष्ट है पृथ्वी के ऊपर भाग केवल पार्थिव परिणाम नहीं है। प्रत्युत द्यु और अन्तरिक्षस्थ पशुओं का इनमें योग हैं।

वर्तमान विज्ञान वेत्ता इस ऊषर को सोडियम नाइट्रेट (Sodium Nitrate) अथवा पोटैशियम नाइट्रेट (Potassium Nitrate) का नाम देते हैं। लवण में भी सोडियम की प्रधान भाग होता है। आयुर्वेद का सुश्रुत आदि संहिताओं में षड्रस के व्याख्यान में लवण को आग्नेय कहा है।

"कटु - अम्ल - लवण आग्नेयः।"
सूत्र स्थान - 42/7।।

चरक संहिता में भी लिखा गया है-

"[illegible]-[illegible]तवाल्लवणः।" सूत्र- 26/40।।

समुद्री जल में लवण का अत्याधिक भाग इन पशुओं से सम्बन्ध रखता है।

पृथ्वी का विस्तार-

ऊषरों के बनने से पूर्व ही पृथ्वी का विस्तार पर्याप्त हो चुका था। यद्यपि पृथ्वीस्थ उपलब्ध ऊष-स्थान वर्तमान मन्वन्तर की कई घटनाओं का फल है, तथापि उनका पृथ्वी की प्रथमोत्पत्ति के समय से विद्यमान था।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है। खेती के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए किसानों को अच्छे बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में खेती के साथ पशुपालन स्वाभाविक काम है, क्योंकि पशुपालन से हल खींचने वाले बैल और घोड़े ही नहीं अपितु स्वाद की भी प्राप्ति को जाती है, जो खेतों को उपजाऊ बनाने के लिए अपेक्षित हैं। प्राचीन भारत में पशुपालन बहुत सरल काम था। इसका कारण यह है कि इस देश में घास प्रायः सर्वत्र उगती है, और पुराने समय में जनसंख्या कम होने के कारण घासों के मैदान पर्याप्त मात्रा में मिलते थे जिनमें पशु बिना देखभाल के चर सकते थे।

सिन्धु सभ्यता के युग में लोगो को पशुपालन का बड़ा चाव था। यहाँ से पशु दूसरे देशों को भी भेजे जाते थे। कूबड़ वाले बैल सिन्ध से ही भारतवर्ष के सभी प्रान्तों मे पहुँचते थे। यहाँ की खुदाई में बैल, भैंस, भेंड़, हाथी और ऊंट की ठटरियाँ मिली हैं। सिन्ध के प्राचीन निवासी प्रायः इन्हीं पशुओं को पाला करते थे। संभवतः घोड़े भी यहाँ पाले जाते थे। पशुओं में सबसे अधिक गाय तथा बैल पाले जाते थे।

शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है।

"पुरुषमश्वं गामविमजं यद्पश्यन्तस्मादेते पशवः।।"
श0ब्रा0- 6/2/1/।।

इस प्रकार पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज आदि पशुओं का उल्लेख भीः शतपथ में मिलता है। वैदिक काल के आर्य भी प्रायः कृषि के साथ पशुपालन करते थे। जिसमें अश्व, गाय, बैल, घोड़े, बकरियाँ और भेड़ें आदि पशु मुख्य रूप से पालते थे।

शतपथ में आगे लिखा गया है कि -

"पुरुषोऽश्वो गौरविरजो भवन्ति।"
शO ब्राO- 6/2/1/15।

अर्थात् पुरुष, अश्व, गौ, अवि तथा अज यही सब पशु होते हैं।

इस प्रकार वैदिक काल में जिन पशुओं का उल्लेख मिलता है वे इस प्रकार हैं-

(1) गौ ही जीवन गाथा-

यज्ञादि कार्यो में गायों की विशेष आवश्यकता होती है। वैदिक काल में आश्रम वासियों के यहाँ गायों के बड़े बड़े झुंड होते थे। जिन्हें उनके शिष्य चराया करते थे। गाय के विषय में कुछ उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है जो इस प्रकार है।

"गब्यानुत्तमेऽहन्नालभतऽएते वै सर्वे पशवो यद् गब्या।"
शO ब्राO- 13/3/2/3।।

अर्थात् गाय आदि ओं कहलाते हैं, अन्तिम दिन गाय आदि का आलभन (यज्ञों) में होता है। क्योंकि वे सब पशु हैं। जो गाय आदि हैं।

अकेले सत्यकाम को उनके गुरु हारिद्रुयत ने 400 गायें चराने के लिए दीं, जिनको पाल-पोष कर सत्यकाम ने शीघ्र ही 1000 कर दिया। राजाओं के अधिकार में भी आश्रम वासियों की तरह सहस्रों गायें रहती थीं। वृहदारण्य उपनिषद् मे लिखा है कि एक बार राजा जनक ने एक सहस्र गौवों की सींगों मे सोना लगवाकर उनको सबसे बड़े वेद के पंडित याज्ञवल्क्य को दे दिया।

राजा जानश्रुति ने एक सहस्र गायें रैक्व को देकर उनसे शिक्षा ली थी।

"इसी क्रम में प्राचीन भारतीय भाषा में गौ से सम्बन्धित विभिन्न शब्दावली का होना भी स्वाभाविक है। गाय के जन्म और जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ उन-उन शब्दों से प्रकट की गयी हैं।"

ओसर बछिया जो हरी होने फलने और बरदाने के लिए तैयार हो "उपसर्या" कहलाती थी। "उपसर्या कल्या प्रजनने" अर्थात् वह प्रजनन या बूनें साहने के लिए काल प्राप्त समझी जाती थी। उसका पहला बरदाना उपसर कहा जाता था। बछिया तीन

वरस या तिबरसी होने पर पूरी पट्ठी मानी जाती थी। विराट् पर्व में उसे त्रिहासर्नी माहेर्या कहा है।

गाभिन होने के बाद यदि वह बह जाय या तू-निदा जाय तो उस चुई-चुई को वेहत् कहते थे। (वेहत् गर्भ पातिनी)

गाभिन् होने पर जो ठहर जाती थी वह गर्भ पूरा होने पर पुड़े तोड़ने लगती थी, जिससे सूचित होता था कि वह आज कल में बिआने वाली है। उसकी अवस्था का द्योतक अद्यश्वीना शब्द था।

वैदिक भाषा में इसे ही प्रवत्या कहते थे। "भय्यप्रवय्ये च छनदसि वत्सरी प्रवय्या।"

बिआने के बाद पहलवन बिआई या पहलौटी गाय गृष्टि कहलाती थी। यह उस प्रकार की गौथी जो एक ब्यांत के बाद लगभग तब तक दूध देती थीं, जव तक दूसरी ब्यांत न करे। इसी के लिए वैदिक भाषा में नैत्यिकी शब्द चलता था। स्वाभाविक है कि ऐसी गाय बहुत धन्य तथा शीलवती मानी जाती है। इसे ही मध्य कालीन संस्कृत में नित्यवत्सा तथा बृजभाषा में नैचकी कहा गया है। इस प्रकार जो गाय बरस-बरस या बरस ब्यवर होती थी उसके लिए पाणिनि कालीन भाषा में समांसमीना यह सुन्दर शब्द चल गया था।

पतंजलि ने ऐसी गौ के विषय में अपने युग की कल्याणी भावना को प्रकट करते हुए लिखा है-

"गौरियं या समां-समां विजायते।
गोतरयं या समां-समां विजायते स्त्रीवत्सा च।।"
भाष्य- 5/3/55

वह गौधन्य है जो बरस-बरस पर बियाती है। उससे भी उत्कृष्ट वह है जो बरस-बरस पर विआती तथा बछिया जनती है।

जग तक गाय दूध देती रहे वह धेनु कहलाती थी। जिसे आज भी हिन्दी में धेन कहते हैं। इसे ही कात्यायन ने "अस्तिक्षीरा" कहा है।

बिआने के छः सात माह बाद दूध गाढ़ा होने तथा कम होने लगता है, और गाय बष्कयणी हो जाती है। जिस गाय को उसके दूध से ऋण पटाने के लिए बन्धक रख दिया जाय वह धेनुष्या कहलाती है। इस प्रकार वैदिक काल में गाय की जीवन गाथा प्रचलित थी।

"अथो गौरिति ब्रूयात्। इमे वै लोका गौर्यद्धि किंच गच्छतीमास्तंल्लोकान्गच्छतीम ऽउ लोकाऽएषोऽग्निश्चितस्तस्माद्गौरिति ब्रूयात।।"

शतपथ ब्रा0- 6/1/3/35।।

अर्थात् या कहे कि गौ। गौ ये लोक है। क्योंकि जिस किसी की "गति" है उसकी पृथ्वी में ही गति है और यह लोक भी स्वयं अग्नि है, इसलिए कहे 'गौ' हैं।

रासभ-

वैदिक काल में गधों का भी पालन होता था। इनको भी अन्य पशुओं की भाँति पालते थे। शतपथ ब्राह्मण में भी इनके सम्बन्धित उल्लेख मिला है।

"तऽएतमेकं पशुं द्वाभ्यां पशुभ्यां प्रत्यपश्यन्रासभं गोश्चावेश्च तद्यदेतमेकं पशुं द्वाभ्यां पशुभ्यां प्रत्यपश्यंस्तस्मदेषऽएकः सन्द्विरेताः।।"

श0 ब्रा0- 6/3/1/23।।

अर्थात् इसलिए दो पशुओं के बजाय एक पशु लिया। अर्थात् गाय और भेड़ के बजाय गधा। चूंकि उन्होंने दो के बजाय एक लिया, इसलिए (गधा) दुहरे वीर्य वाला होता है। (द्विरेताः)।।

गधों के लिए खरशाला नामक अलग अस्तबल बनाए जाते थे। गधा भी अश्व की भाँति होता था अर्थात वह अश्व ही है। इस के उदाहरण शतपथ मे इस प्रकार दिये गये हैं।

"अश्वप्रथमोश्ररासभोऽथाज ऽएवं ह्ये तेऽनुपूर्वं यद्वै तदश्रु संक्षरितमासीदेष सोऽश्वोऽथ यत्तदरसदिवैष रासभोऽथ।।"

श0 प0 ब्रा0- 6/3/1/28।।

अर्थात् यह वही अश्व है। जो आरम्भ में अश्रु सुरक्षित किया गया था, और जो "अरसत" अर्थात् चिलाया इसलिए रासथ हुआ।

"अथरासभम् युञ्जाथां रासभं युवमित्यध्वुर्यं चैतद्य जमानं चाहास्मिन्यामे वृषण्वसूऽइत्यस्मिन्कर्मणि वृषण्वसूऽइत्येतदग्निं भरन्तमस्मयुमित्यगिनं, भरन्तमस्मत्प्रेषितमित्येत तद्रासभें वीर्यं दधाति।।"

श0 प0 ब्रा0- 6/3/2/3।।

अर्थात् अब गधे को-

"युंजथां रासभं युवम्।।"
यजु0- 11/13।।

अर्थात् तुम गधे को जोतो।

वह यह अध्वर्यु और यजमान से कहता है-

"यस्मिन् यामे वृषण्वसु"
यजु0- 11/3

इस मार्ग पर धन को बरसाते हुए अर्थात् इस यज्ञ में धन की वर्षा करते हुए-

"अग्निं भरन्तमस्मयुम"
यजु0- 11/3

अग्नि को रखते हुए और हम से प्रेरित हुए। इस प्रकार वह गधे में पराक्रम स्थापित करता है।

अब वह गधे से कहता है-

"अथ रासभं । स्थिरोभव वीड्वङऽआशुर्भव
वाज्यर्वन्निति स्थिरश्च भववीड्वङ्गश्चाशुश्च
भव वाजी चावन्नित्येतत्पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः
पुरीषुवाहणऽइति पृथुर्भव सुशीमस्त्वग्नेः
पशब्यवाहन इत्येतत्तद्रासभे वर्यं दधाति।।"
श0 प0 ब्रा0- 6/4/4/3

अब गधे में पराक्रम भरने सम्बन्धी विषय में वह गधे से कहता है, इस सम्बन्ध में यजुर्वेद में कहा गया है-

"स्थिरोभववीड़ वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन।।"
यजु0 11/44

हे दृढ़ अंगो वाले वीर्यवान स्थिर और शीघ्र गामी हो।

"पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहण।।"
यजु0 11/44

"अग्नि के सामान को लेचलने वाले तू चौड़ा चकला तथा अच्छे स्थान वाला हो, इस प्रकार वह गधे में पराक्रम भरता है।"

इसी प्रकार शतपथ में गधे के विषय में कहा गया है-

"अथरासभस्य। वृषाऽग्निं वृषणं भरन्निति वाऽआग्नर्वृषा
रासभः स वृषा घृषाणां भरत्यपां गर्भं समुद्रियमित्यपां
ह्येषगर्भः समुद्रियस्तदेनं रासभेन सम्भरति।।"
श0ब्रा0- 6/4/4/8।।

अर्थात् अब गधे को- "वृषाग्निं वृषणं भरन।"
यजु0- 11/46

में नर अग्नि नर को धारण करते हुए, अग्नि नर है और गधा भी नर है, नर नर को ले जाता है।

"अपां गर्भं समुद्रियम।"
यजु0 11/46

अर्थात् "जलों का समुद्रोत्पन्न गर्भ" यह जलों का समुद्रोत्पन्न गर्भ है। इस प्रकार गधे को ठीक करता है (सजाता है)।

अवि-

अवि के लिए आविक अर्थात् भेड़ शब्द आया है जिसे भेड़ो का बड़ा झुंड और भ्रक कहलाता था। जिन पशुओं का वर्णन शतपथ में आता है उनमें से भेंड़ भी एक पशु ही है जिसका उल्लेख शतपथ में इस प्रकार मिलता है। जिसका क्रम से आलभ किया गया है-

पुरुषं प्रथम् आलभते। पुरुषो हि प्रथमः पशूनामथाश्वं पुरुषं ह्यन्वश्वोऽथ गामश्वं ह्यनु गौरथाविं गां ह्यन्वविरथाजमविं ह्यन्वजस्त देनान्यथापूर्वं यथा श्रेष्ठमालभते।
श0 ब्रा0- 6/2/1/18।।

अर्थात् पहले पुरुष का आलभन होता है क्योंकि पशुओं में पहला पुरुष है। फिर अश्व क्योंकि पुरुष के पीछे अश्व है। फिर गौ का क्योंकि अश्व के पीछे गौ है। फिर अवि का क्योंकि गाय के पीछे अवि है। और फिर अज का क्योंकि अवि के पीछे अज है। इस प्रकार यथाक्रम अर्थात् श्रेष्ठता के हिसाब से आलभन करता है।

कात्यायन ने भेड़ के दूध के लिए "अविदूस", 'अविमरीस' "अविसोढ़" आदि शब्द दिये हैं। जो जनपदीय बोली के लिए ज्ञात होते हैं। अजापाल को जावाल और भेड़, बकरियों के बहुत वड़े रेवड़ पालने वाले को 'महाजावाल' कहा जाता था। जावाल का सम्वन्ध म्लेच्छ भाषा के भेड़ वाची शब्द योबिल या जोबिल (भेड़ की सींग) से ज्ञात होता है, जिससे अग्रेजी का जुबिली शब्द वना है। पाणिनि में और भी दो एक विदेशी शब्द आये हैं, जैसे- अरबी भाषा का हलाहिल, ईरानी का दिष्टि और शक भाषा का कन्था आदि शब्द आये हैं, जो प्राचीन काल में प्रचलित थे।

ऊँट-

शतपथ ब्राह्मण में ऊंटो के समूह को औष्ट्रक, बच्चे को करभ और छोटे वच्चे को शृंखलक कहा गया है। प्राचीन काल में ऊँट और खच्चर की मिली-जुली टुकड़ी उष्ट्रवामि कहलाती थी। इससे यह ज्ञात होता है कि सेना में शीघ्र प्रयाण के लिए इनका उपयोग होता था।

वैदिक काल में ऊँट के बाल, खाल या आँतों से बने हुए पदार्थ या बर्तन औष्ट्रक कहलाते थे। ऊँट बालों से बनायी गयी गोणी और उनकी आँतो से बनाए हुए कुप्पे या कुप्पियों आदि की इस शब्द से की जाती थी।

अज-

भेड़-बकरी दोनों को शतपथ में अजाबि सा अजैड़ और बकरों का रेवड़ आज तक कहलाता था।

शतपथ ब्राह्मण में बकरे से सम्बन्धित जो उल्लेख मिले हैं वे इस प्रकार हैं-

शुक्लं तूपर मालभते
शा0प0ब्रा0- 6/2/2/6।

अर्थात् शुक्ल बकरे का आलभन करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के 6/3/1/28।। मे जो उल्लेख बकरे से सम्बन्धित मिला है, वह यह है-

"अश्वः प्रथमोंऽथ रासभोऽथाज"।
शoपoब्राo- 6/3/1/28

अर्थात् पहले अश्व फिर गधा उसके बाद बकरा।

बकरे के सम्बन्ध में फिर शतपथ का यह वाक्य-

"अथाजम्। पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ गिरस्वदाभरेति पृथव्याऽउपस्थादाग्निं पशब्यमाग्नि वदाभरेत्येतन्तदेनमजेनान्विच्छति।।"
शoपoब्राo- 6/3/2/9

अर्थात् अब बकरे की-

"पृथिब्याः सघस्थादग्निं पुर्राष्यमङगिरस्वदाभर।"
यजुo- 11/16

पृथिवी के आसन से अंगिरा के समान पुरीष्य अग्नि को ला।

पृथिवी के आसन से पशु सम्बन्धी अग्नि को अग्नि के समान ला। ऐसा तात्पर्य और इस प्रकार वह उसको बकरे के द्वारा तलाश करता है।

अब शतपथ के माध्यम से अब बकरे को सुसज्जित करता है।

"अथाजस्य। ऋतं सत्यमृतं सत्यमित्ययंवाऽअग्नि ऋर्तमसावादित्यः सत्यं यदिवाऽसावृतमयं सत्यमुभयम्वेतदयमग्निस्तस्मादाहऽर्तं सत्यमृतं सत्यं मिति त देनमजेन सम्भरति।।"
शoपoब्राo- 6/4/4/10।।

अर्थात् अब बकरे के ऊं पर-

"ऋतं सत्यमृतं सत्यम्।"
यजुo- 11/46

अर्थात् ऋत सत्य है अमृत सत्य है।

यह अग्नि ऋत है। यह आदित्य सत्य है। या आदित्य ऋत है, अग्नि सत्य है। परन्तु यह अग्नि दोनों है, ऋत भी सत्य भी। इसलिए कहा ऋत सत्य है अमृत सत्य है।

इस प्रकार वह बकरे को सुसज्जित करता है।

अश्व-

शतपथ ब्राह्मण में घोड़े तथा घोड़ी का संयुक्त नाम अश्व पाया जाता है। इसे ही वैदिक काल में अश्व के नाम से पुकारा जाता था। अश्व की अनेक जातियों का वर्णन शतपथ में मिलता है। इसमें उत्तम जाति के अश्व कम्बोज, बाल्हीक, सौवीर तथा सिन्धु से लाये जाते थे।

हरण-

घोड़ी के गरमाने को अश्वस्यति कहा गया है। गर्भाधान करने के वाद नर घोड़े को जो रातिब आदि दिया जाता था, उसे हरण कहा जाता था। यह नेग दस्तूर से वंधा हुआ होने के कारण धर्म्य था और उसका देना आवश्य था।

आश्वीन-

एक घोना दिन भर में जितनी मंजिल तय करे वह दूरी आश्वीन कही जाती थी। अथर्वेद में इसे आश्विन कहा गया है।

शतपथ ब्राह्मण में घोड़े की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख मिले हैं, वे इस प्रकार हैं-

"अथाश्वानद्विरभ्युक्षति। स्नपनायाभ्यवनीयमानात्स्व पितान्वोदानीतानद्भयोह वाऽअग्रेऽश्वः सम्बभूव सोऽद्भ्यः सम्भवन्न सर्वः समभवदसर्वो हि वै समभवन्तस्मान्न सर्वैः पदिभः प्रतितिष्ठत्येकैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति तद्यदेवास्यात्राप्स्वहीयत ते नैवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्सनं करोति तस्मादश्वानद्भिरभ्युक्षतिस्नपनायाभ्यवनीयमानान्त्स्नपितान्वो दानीतान्।।"
श0प0ब्रा0- 5/1/4/5।।

अर्थात् अब वह घोड़ो पर जल छिड़कता है, या तो उस समय जब पानी पिलाने ले जाते हैं, या जब उस समय जब पानी पिला कर लाते है। पहले घोड़ा जल से ही उत्पन्न हुआ था। जब वह जल से उत्पन्न हुआ, तो अपूर्ण उत्पन्न हुआ। अपूर्ण तो हुआ ही, क्योंकि वह सब पैरों से बराबर नहीं खड़ा होता। एक पैर एक ओर को उठाकर खड़ा होता था। अब जो कुछ जल में शेष रह गया, उसकी पूर्ति जलों से करता है, इसलिए घोड़ों पर जल छिड़कता है, चाहे उस समय जब पानी पिलाने ले जा रहे हो, चाहे उस समय जब पानी पिलाकर ला रहे हो।।

वह इस मंत्र से जल छिड़कता है-

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वाश्वा भवति वाजिनः।"
यजु0- 9/6

जलों में अमृत है, जलों मे भोषध है, जलों की प्रशंसा से ही हे घोड़ो तुम शक्तिशाली हो जाओ।

"प्राचीन काल में घोड़े रथ में जोते जाते थे, इसका उल्लेख शतपथ में भी इस प्रकार मिलता है।"

"अथ रथं युनक्ति। सदक्षिणायुग्यमेवाग्रे युनक्ति सव्यायुग्यं वाऽऽअग्रेमानुषेऽत्थेदं देवत्रा।।"
श0 ब्रा0- 5/1/4/7।।

अब रथ में घोड़े जोतता है। पहले दाहिना। मनुष्य लोग पहले बायां जोतते हैं। परन्तु देवताओं की प्रथा विपरीत है।

शतपथ में आगे ही घोड़े के विषय में कहा गया है-

"यन्तूपः केसरवांस्तदश्वस्य रुपं तूपरो हि केसरवानश्वो यदूष्टाशफस्तद्गो।"
श0 ब्रा0- 6/2/2/15

यह जो गर्दन के बाल (अयाल) है वह अश्व का ही रूप है, घोड़े के दाढ़ी नहीं होती।

अब घोड़े में किस प्रकार पराक्रम सीापित होता है। उसे शतपथ में इस प्रकार दर्शाया गया है-

"तदेन मेता देवताः करोत्यग्निं वायुमादित्यं तदश्वे वीर्यं दधाति।।"
श0 ब्रा0- 6/3/2/2।

इस प्रकार वह उसको तीन देवता अग्नि, वायु और आदित्य बनाता है, और इस प्रकार अश्व में पराक्रम स्थापित करता है।

वह घोड़े से कहता है-

"प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव।"
यजु0- 11/12

इसी क्रम में वह घोड़े से कहता है-

सोऽश्वमभिमन्त्रयते।

"सजातो गर्भोऽअसि रोदस्योः।"
यजु0 11/43,
ऋ0 10/1/2

तू इन दोनों लोकों का उत्पन्न हुआ गर्भ है। रोदसी है ये पृथ्वी और द्यौः। उनको यह उत्पन्न हुआ गर्भ है।

"ओषधयोवाऽएतस्य मातरस्ताभ्यऽएष कनिक्र दत्प्रैति तदश्वे वीर्यं दधाति।।"
शत0ब्रा0- 6/4/4/2

औषधियाँ उसकी माताएँ हैं। वह इनसे शोर करता हुआ भागता है। इस प्रकार वह घोड़े में पराक्रम देता है।

बैल-

वैदिक काल में भारतीय किसानों के जीवन में बैल का जो महत्वपूर्ण स्थान है उसकी तस्वीर संस्कृत भाषा तथा हिन्दी भाषा के सैकड़ो शब्दों से मिलती है, जो बैलों के रूपरंग, आयु स्वभाव और दुःख-सुख पर प्रकाश डालते हैं। शतपथ में दूध पीते हुए बच्चे को शकृत करि कहा जाता था। वैदिक भाषा में बच्चे को आतृणाद भी कहा जाता था। फिर वही वत्स या बछड़ा कहलाता था। बछड़े का समूह वात्सक था। प्राचीन काल में जब गायें जंगल में चली जाती थीं तो जिस विशेष स्थान में बछड़े रखे जाते थे, उसे वत्सशाला कहते थे।

लगभग दो वर्ष के बछड़े को वैदिक काल में दित्यवाह कहा जाता था। उसे निकालने के लिए जो लकड़ी के लट्ठे का खटखटा बनाया जाता है, संभवतः उसकी संज्ञा दित्य थी। उसमें जोत कर जिस बछड़े को निकालते थे उसकी संज्ञा दम्य होती थी।

बैल पहले बत्स, फिर दम्य और अन्त में बलीबर्द बनता था।

चतुर किसान अपने बछड़ों मे से पहले ही यह पहचान लेते हैं कि किसे सॉड़ या विजार बनाना है। ऐसे चुने हुए बछड़ों को आर्षभ्य कहा जाता था। ऐसे बछड़ों को चौखने के लिए किसान प्रारम्भ से ही गाय के थनों में अधिक दूध छोड़ देता है और प्राय: दो थनो का दूध उन्हें देता है। कभी-कभी तो ऐसे बछडे को अपनी मॉं का पूरा दूध की मुखामेल या मुहछुट्ट पीने दिया जाता है।

इस प्रकार ऋषभ बनने वाला बछड़ा जब कुछ बड़ा हो कर बढ़ने लगता है, तब उसे जातोक्ष कहते थे। जतोक्ष बधिया नहीं किया जाता था। यौवन काल में उसे महोक्ष यह सम्मानित पद मिलता था। वृद्धावस्था में उसे वृद्धोक्ष कहते थे। अत्यधिक सम्मान देने के लिए उसे ऋषभतर कहा जाता था।

जिस बछड़े को शकट आदि में जोतने के लिए बधिया करते थे वह पूरा जवान होने पर उक्षा और अधेड़ होने पर उक्षतर कहा जाता था।

बछड़ों का दॉंतना तथा उनकी उम्र-

वैलों का दॉंतना तथा उम्र	दॉंतो की संख्या
2 से 2।। वर्ष	दो दॉंत
तीन वर्ष	चार दॉंत
साढ़े तीन वर्ष	छह दॉंत
चार वर्ष	आठ दॉंत

अर्थात् दो से ढ़ाई वर्ष के बीच में बछड़े के दूध के दॉंत गिर कर दो पक्के दॉंत निकल आते है, तब वह द्विदन् कहलाता है। जिसके दूध के दॉंत नहीं टूटे हो उसे उदन्त कहते हैं। तीन वर्ष की आयु में वह चतुर्दन् या चौदन्ता होता है। इस समय उसकी नाक छेद कर नाथ डाली जाती है और तब से वह नाथहरि हो जाता हैं लगभग साढ़े तीन वर्ष की आयु में दो दॉंत और निकल आते हैं, तब वह षोड़न् अर्थात् छद्दर कहा जाता है। पूरे चार वर्ष की आयु में सब दॉंत भर जाते हैं और तब तरुण बैल अष्टदन हो जाता है। जिसके एक दॉंत कम हो उसे सप्तदन् या सद्दर कहते थे।

बैल के क्रय तथा विक्रय के समय उसके दॉंत देखकर उसकी आयु का अनुमान किया जाता है। ऐसे ही सींगों की नाप से भी आयु की पहचान होती है।

काम बैलों को रथ, गाड़ी, तॉंगा, हल आदि जिसमें जोतना हो उसी के अनुसार उनका अलग-अलग वर्गीकरण करके दाने-चारे तथा टहल का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के लिए पूरी नाप का ठाढ़ा बैल पसन्द किया जाता था। हल और गाड़ी में चाहे

जैसा भी हो जोत लेते थे। शौकीन लोग रथ के बैलों को पालने में काफी ध्यान देते थे, क्योंकि शतपथ काल में बैलों के रथ की सवारी सबसे अधिक सम्भ्रान्त मानी जाती थी।

रथ खींचने वाला बैल रथ्य, जुवा खींचने वाला युग्य। बोझ ढ़ोने वाला धुर्य या धौरेय, पूरी गाड़ी या सग्गड़ खींचने वाला शाकट और हल खींचने वाला हालिक या सौरिक कहलाता था। गाड़ी में केवल एक और जुतने वाला अभ्यस्त बैल एक धुरीण और दोनो ओर जुतकर जुआ खींचने वाला सर्वधुरीण कहलाता था। वह बैल सब से अच्छा माना जाता था जो छकड़ा खींचता था। तथा जो छकड़े और हल दोनों में चलता है वह और अच्छा माना जाता था।

बैलों की प्रसिद्ध नस्लें-

शतपथ में नस्ल के बैलों को सल्वक कहा जाता है। उत्तरी राजस्थान के बीकानेर से अलवर तक फेले हुए बड़े भू-भाग का नाम साल्व था। मेड़ता और जोधपुर इलाका भी उसी के अर्न्तगत था। इस प्रदेश के नागौरी बैल आज तक प्रसिद्ध हैं, जो चलने में ततैया होते हैं। नागौर के उत्तर पश्चिम में दूर तक फेला हुआ जो जंगल है उसी में यह नस्ल प्राचीन काल से पनपती आयी है।

शतपथ में, वाहीक, कच्छी बैलों का तथा रंकु जनपद के रांकव और रांकवायण बैलों का उल्लेख मिलता है। इनमें पहली दो नस्लें आज तक मशहूर है।

काठियावाड़ में दैवतक पर्वत की तलहटी में बैलों तथा गायों की एक विलक्षण जाति अभी भी जीवित है। यहाँ की गायें अत्यन्त दुधार और सुहावनी होती है तथा बैल अत्यन्त चलने वाले होते हैं।

यही प्राचीन कच्छी तथा काठियावाड़ी नस्ल होनी चाहिये, जिसका रंग सिंह के समान तथा नेत्र सुभग होता है।

शिल्प कला-

शतपथ में शिल्पी शब्द चारु शिल्पी तथा कारुशिल्पी दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायन, वादक जिस नित्य संगीत की साधना करते हैं, उस ललित कला को भी शतपथ काल में शिल्प कहा जाता था। कुम्हार आदि के मोटे हुनर को भी शिल्प कहते थे।

वौद्ध साहित्य में ठीक यही अर्थ सिप्प का है। वहाँ नट, लंघक आदि की कलाबाजी को भी सिप्प कहा गया है।

अर्थशास्त्र में सैनिक शिक्षा भी एक शिल्प है, और राजा द्वारा सेना का निरीक्षण शिल्प दर्शन कहा गया है। कौषीतकी व्राह्मण में नृत्य और गीत को शिल्प माना गया है। हाथ से शिल्प या उद्योग करने वाले के लिए शतपथ काल में कारि शव्द प्रयुक्त होता था।

शिल्पियों के भेद-

वैदिक काल में प्रत्येक गॉव में कम से कम पॉच प्रकार के शिल्पी अवश्य पाये जाते थे।

(1) कुम्हार
(2) लोहार
(3) बढ़ई
(4) नाई
(5) धोबी।

कुशल शिल्पियों राज शिल्नी कहा जाता था। संभवतः ये लोग राजकुल से सम्बन्धित होने के कारण प्रशंसित और कर्मकुशल समझे जाते थे। बढ़ई राजा के लिए काम करता था, वह फिर निजी काम अर्थात् घर पर बैठ कर जनता का काम नहीं करता। राजकुल के कर्मों में नियुक्त शिल्पियों को जनता का काम करने का निषेध पहले से ही चला आता था। इसके विपरीत जो सर्व साधारण के लिए काम करते थे, उनमें भी दो प्रकार के शिल्पी थे।

(1) जो अपने ठीहे पर बैठ कर ही काम करते थे।
(2) जो बुलाए जाने पर किसी के भी घर जाकर काम कर आते थे।

विशेष रूप से बढ़इयों के लिए आज भी यह बात ठीक घटित होती है।

शिल्पियों के नाम-

कुलाल, कुम्भकार उसके बनाये गये मिट्टी के बर्तन कौलात्मक कहलाते थे। तक्षा का मुख्य कार्य रन्दे, बसूले से लकड़ी को छीलना या गढ़ना था। उसके उपकरणों में उद्घन वह ठीहा था, जिसपर रखकर वह अदद तैयार करता था।

शतपथ काल में तक्षा या बढ़ई का महत्व पूर्ण स्थान था। जातक कथाओं मे पॉच-पॉच सौ बढ़इयों के गाओं के उल्लेख से काष्ठमय वास्तु का महत्व सूचित होता है।

धनुष्कर, सामान्य धनुष और महेष्वास नाम के विशेष धनुष का उल्लेख है। धनुष ताड़ की लकड़ी के बनाये जाते थे। महेष्वास बड़ा धनुष था जो पूरे छः फुट का मनुष्य की लम्बाई के बराबर होता था। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार उसका एक सिरा भूमि पर टेक कर वाण चलाया जाता था।

शतपथ में कई प्रकार के रंगो से रंगे हुए वस्त्रों का भी उल्लेख है। लाल रंग से रंगा हुआ वस्त्र लोहित तथा काला रंग से रंगा कालक कहलाता था। लाक्षा या लाखी रंग जिसे जतु भी कहते हैं वस्त्र रंगने के लिए और लकड़ी पर चढ़ाने के लिए इस देश में सदा से अत्यन्त प्रिय माना जाता रहा है। उसके रंग हुए सामान को लाक्षिक या जातुप कहते थे।

इसी प्रकार मञ्जित, नीली तथा रोचना या गोराचन इन चटकीले रंगो से भी वस्त्र रंगे जाते थे। शकल और कर्दय से भी वस्त्र रंगने का रिवाज था, जिन्हें शाकलिक या कार्दमिक कहते थे। शतपथ में हरिद्रा और महारजन नामक रंगो का भी उल्लेख मिलता है।

धातु और रत्नों का उल्लेख-

शतपथ में धातु और रत्नों का भी उल्लेख मिलता है। कालायस् (लोहा) और लोहितायस् (तांबा)। रजत आदि गण में लोहे और शीशे का उल्लेख है। उनकी वनी वस्तुएं लौह और शैश कहलाती थीं।

मणि-

लोहित संभवतः माणिक्य या लाल की संज्ञा थी। अनुमानतः पद्मराग रत्न का नाम था और लोहतिक केवल संग या उसकी अपेक्षा घटिया किस्म का पत्थर होता था।

> "लोहिताख्यस्य मणेः पद्मरागस्य चान्तरम्।
> यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः।।"
> पञ्चतन्त्र- 1/85

यह हकीक या तामड़े की कोई जाति होनी चाहिये। सासग या सस्यक का नाम अनुमानतः पन्ने का प्राचीन नाम था, जिसे बाद में कुषाण गुप्तकाल के लगभग मरकत कहने लगे।

श्री मोतीचन्द्र जी का विचार है कि-

"लाल सागर मरकत बन्दरगाह से आने के कारण पन्ने का नाम मरकत पड़ा।"

किन्तु वैदूर्यमणि के विषय में कहा गया है कि यह मणि वालवाय पर्वत मे होती थी किन्तु विदूर नगर के वैकटिक उसे तराशते या उसका संस्कार करते थे, अतएव वह वैदूर्य नाम से प्रसिद्ध हुई

तन्तुवाय-

जहाँ कपड़ा बुना जाता था, उस स्थान को आवाय और करघे को तन्त्र और ढ़रकी को प्रवाणी कहते थे। जो वस्त्र अभी नया-नया करघा से उतरा हो, उसे तन्त्रक, नवक या निप्रवाणि कहा जाता था। शतपथ में वस्त्र के लिए प्रायः आच्छादन शव्द का प्रयोग किया गया है। जिसमें कुछ वस्त्रों के नाम दिये गये हैं, जैसे-

शैफालिक (हरसिंगार या पारिजात का रंगा हुआ), काशिक (काशि जनपद का बना हुआ, जिसे जातकों में कासेय्यक या वाराणसेय्यक कहा गया है)।

माध्यमिक अर्थात् चिन्तौण के पास प्राचीन मध्यमिका नगरी का वना हुआ वस्त्र।

कम्बलकार-

शतपथ में इस देश में अनेक प्रकार के कम्बल बनाएं जाते थे, विशेषतः उत्तर-पश्चिम भारत के सब प्रकार के ऊनी वस्त्र और कम्बल बनकर मध्य प्रदेश में आते थे। जिनका उल्लेख इस प्रकार मिलता है।

(1) प्रावार- इसका उल्लेख महाभारत आदि में बहुधा आता है।
(2) पाण्डु कम्बल
(3) पण्य कम्बल

काशिका में रावक भी एक प्रकार का कम्बल माना गया है। यह रंकु नाम की बकरियों के लम्बे बालों से बनता था। पण्य कम्बल निश्चित नाप और तौल का बाजार में चालू कम्बल था। उसमें जो ऊन लगती थी, उसे उस कारण कम्बल्य कहते थे। सौ पल या 5 सेर ऊन का संज्ञा कम्बल्य थी।

पाण्डु कम्बल-

वैदिक काल में इस कम्बल से मढ़े हुए रथ पाण्डुकम्वर्ली कहलाते थे। काशिका ने इसे राजसिंहास पर बिछाने के लिए वढ़िया मेल का रंगीन कम्वल कहा है। इन्द्र के हाथी और आशन पर बिछाने के लिए जातकों में इसका उल्लेख है। वहॉ यह भी कहा गया है कि चटकीले लाल रंग का कम्वल गन्धार देश में वनता था।

“[illegible]” में उड्डियान कम्वल का उल्लेख है-

“काशिकानि च वत्थानि उड्डियाने च कम्बले।”
4/352

स्वात की द्रोणी प्राचीन गान्धार या उड्डियन के नाम से प्रसिद्ध थी। आज भी वहॉ विशिष्ट प्रकार के कम्बल बनते हैं, जो सम्पूर्ण उत्तर पश्चिम भारत में स्वाती कम्वल के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्री आरेल स्आईन ने- स्वाती की अपनी पुरातत्व परायण मात्रा में पता लगाया कि ये कम्बल वहॉ की स्वाती स्त्रियां अभी तक बुनती हैं। इनके किनारे अत्यन्त सुहावने चटकीले लाल रंग के होते हैं।

चर्मकार-

शतपथ ब्राह्मण में चमड़े की बनी हुई कई वस्तुओं का उल्लेख है। जैसे- नध्री, वह तस्मा जिससे बैलों को जुए में नाधते हैं। वर्ध (हिन्दी बर्द्धी), चमड़े की दुवाली या रस्सी।

इससे ज्ञात होता है कि कभी-कभी मोटी बरत या कुऑ चलाने की रस्सी या शकट गाड़ी में बॉधने की रस्सी भी चमड़े की बनायी जाती थी।

प्रायः कुएँ से पानी उठाने के लिए मोट, चरस, पुर के बनाने में गाय भैंस के चमड़े का पूरा थान लग जाता था।

लोक में जूता बनवाने के दो प्रकार हैं। पहला मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर और दूसरा स्वयं बाजार में जाकर जो भी अपने पैर की नाप का हो पहन लेते हैं। पहले प्रकार की पनही के लिए लोक में अनुपदीना शब्द चलता था जिसे गॉवों में अच्छी और मजबूत मानते हैं।

कर्मकार या लोहार-

वैदिक काल में औजारों का उल्लेख इस प्रकार से है-

(1) भस्त्रा, अयोधन या घन नामक हथौड़ा।
(2) कुटिलिका या ऑकुड़ा, जिसके कारण लोहार के लिए कौटिलक शब्द चल गया। वह गॉव में नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ तैयार करता था, जैसे लोके की बनी हुई हल की कुशी या फाल, एवं दुघन या कुल्हाड़ी।

सुवर्णकार-

शतपथ में कर्णिका, ललाटिका, ग्रैवेयक, अंगुलीयक आदि आभूषणों के नाम आये हैं। उन्हें सुनार तैयार करते थे। वे कसौटी पर सोना कसने में कुशल होते थे, जिसके कारण उन्हें आकर्षिक कहा जाता था। कसौटी लेकर जो लोग घरों में जाकर सोना कसते और उनका बान बताते थे, उन्हें भी आकर्षिक कहा जाता था।

शतपथ में सुनारों के लिए एक विशेष भाषा का प्रयोग मिलता है।

"निष्टपति सुवर्णम्"

वह सोने को ऑच में केवल एक वार तपाता है। अपनी भट्टी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन तरह के ग्राहकों का काम भुगतता है।

(1) जो गहने बनाने के लिए उसके पास नया सोना चॉदी लाते थे।

(2) जो पुराने आभूषण लाकर देते हैं कि उन्हें गलाकर फिर नए गहने बनाएं जांय।

इन दोनों के सोने को लेकर वह उसे बार-बार तपाता और पीटता है या बढ़ाता है।

(3) तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते हैं जो अपने गहने गलाने के लिए नहीं बल्कि सफाई और चमकाने के लिए लाते हैं।

सुनार उन्हें लेकर एक बार अग्नि में तपाता है, और रगड़ कर या बुझाकर उन्हें फिर नये जैसा चमकीला कर देता है। इस तीसरी प्रक्रिया के लिए ही "निष्टपति सुवर्णं सुवर्णकार:" प्रयोग चलता था।

बन्धानी-

अपने देश में पत्थर का काम वहुत पुराने समय से चला आ रहा है। पत्थर की शिलाओ और खम्भे आदि उठाने के लिए वन्धानी होते थे। जो लकड़ी की सोंटों या टुण्डों से और रस्सियों से भारी बोझ उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे या पहुँचाते थे। वे लोग रस्सियों में कई तरह की मोटी तथा मजवूत गांठे लगाते है। उन्हें प्राचीन भाषा में वन्ध कहते थे।

काशिका ने कुछ पुराने बन्धों का उल्लेख किया है। जैसे-

क्रौञ्च वन्ध, मयूरिका बन्ध, अट्टालिका बन्ध आदि। इसी प्रकार अर्थशास्त्रों में वृश्चिकवन्ध नाम आता है, ये बन्धानियों की गाठों, फन्दों या फॉसो के नाम थे।

धातुओं को टांका लगाना-

गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग में लिखा है-

"लवणेन सुवर्ण संदध्यात्।"
गो0 ब्रा0-1/14।।

अर्थात लवण से सोने को टांका लगावें।

पुनः गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग में ही लिखा है-

"सुवर्णेन रजतम् संदध्यात्।"
गो0 ब्रा0- 1/14।।

अर्थात् सोने से चॉदी को टांका लगावें। इत्यादि

रेखागणित-

ब्राह्मण काल में रेखागणित का ज्ञान भी पर्याप्त वढ़ा हुआ था। शतपथ ब्राह्मण के 10/2/2/5-8।। में चतुरश्रश्येनचिति का कुछ वर्णन पाया जाता है।

इसमें मध्य में चार अश्र, पक्षों के दो अश्र (Triangle) और पृछ का एक अश्र होता है। इस प्रकार सब मिलकर सात अश्र हो जाते है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण कहता है-

"स वै सप्तपुरुषो भवति।"

चत्वारो कि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छानि।।
श०प०ब्रा०- 10/2/2/5।।

अर्थात् वह वेदि सात पुरुष वाली होती है।

चार (अश्र) उस पुरुष का शरीर और तीन (अश्र) पक्ष और पूंछ के।

इस वेदि का आकार श्येन पक्षी के समान होता है। इसका उदाहरण इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी की खुदाई में मिला है।

इसके बनाने वाल को अश्रो (Triangle) का पूरा ज्ञान होना चाहिए। साधारण लोग इस कठिन रुप वाली वेदि को न बनाकर एक अश्र वाली वेदि ही वनाते थे। उनका शतपथ ब्राह्मण खण्डन करता है।

"तद्धैके। एकविधं प्रथमं विदधाति न तथा कुर्यात।"
श० ब्रा०- 10/2/3/17।।

"तस्मादु सप्तविधमेव प्रथमं विदधीत।"
श० ब्रा०- 10/2/3/18।।

अर्थात् कई एक (साधारण लोग) एक विध अर्थात् एक की अश्र पहले वनाते हैं। वैसा न करें इसलिए पहले ही सात प्रकार की वनावे।

काठक संहिता के 21/4।। में वेदियों के और भी रूप कहे गये हैं-

(1) प्रउगचिंत चिन्वीत।
अर्थात प्रउगचित रूप वाली अग्नि का चयन करें।

(2) उभयतः प्रउगं चिन्वीत।

अर्थात् दोनों ओर (Squares) रूप वाली अग्नि बनावे।

(3) रथचक्रचितं चिन्वीत।

अर्थात् रथचक्र के समान गोलाकार अग्नि चयन करें।

(4) द्रोणचितं चिन्वीत।

अर्थात् द्रोणाकार (Trough) चिति चिनें।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की वेदियाँ शतपथ ब्राह्मण, तैतरीय संहिता, काठक संहिता आदि में कही गयी है। इनके बनाने वालों को रेखागणित के कई कठिन रहस्यों का भी ज्ञान था। इस बात का विशेष उल्लेख जर्मन विद्वान बर्क ने किया है।

Z.D.M.G. सन् 1901

चतुर्थ परिच्छेद

वाणिज्य या व्यापार

शतपथ में वाणिज्य व्यापार के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री का उल्लेख है। ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वाणिज्य, निमान, क्रय-विक्रय, आपण, पण्य, शुल्क, देय ऋण आदि।

साधारणतः कोई भी मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ नहीं बना पाता है और जो कुछ वह स्वयं बनाता है वह उसकी आवश्यकता से बढ़कर होती है। ऐसी परिस्थिति में लोगों में लेन-देन का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। व्यापार का क्षेत्र पहला अपना कुटुम्ब ही होता है, और फिर बढ़ते-बढ़ते गाँव, नगर, प्रान्त, देश और विदेशों तक विस्तृत हो जाता है। आज-कल सारा संसार व्यापार के बंधन में गुंथा हुआ है। प्राचीन काल में भारतवर्ष का विदेशों के साथ व्यापार जल के मार्गों से सीापित हुआ था।

व्यापारिक सम्बन्ध का सर्वप्रथम परिचय मोहन जोदड़ो और हड़प्पाा की खुदाई से मिला है। पुरातत्व के पंडित इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि यहाँ के निवासी व्यापार भी करते थे और इनके व्यापार का सम्बन्ध विभिन्न देशों में स्थापित हो चुका था। 3000 ई0पू0 में भारत और बबीलोन का व्यापारिक संबन्ध था। इसीक्रम में भारतवर्ष का मध्य एशिया से व्यापार के लिए खैबर के दर्रे से होकर आने जाने का मार्ग बना हुआ था।

सिन्धु सभ्यता के निवासी व्यापार करने के लिए नाव, गाड़ी तथा रथों का प्रयोग करते थे। कौटिल्य के समय में जलमार्ग की अपेक्षा स्थल मार्ग और द्वीपों की अपेक्षा समुद्र तट व्यापार के लिए अच्छे समझे जाते थे।

व्यवहार शब्द - व्यापार - वाणिज्य के लिए सामान्यतः व्यवहार का प्रचलन था उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय-विक्रय है। ज्ञात है कि व्यवहार आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापक व्यापार के लिए और पण स्थानीय क्रय-विक्रय के लिए प्रयुक्त होता था। आपण अर्थात् दुकान या बाजार में क्रय-विक्रय के लिए प्रदर्शित वस्तुएँ पण्य कहलाती थीं।

वाणिज-

शतपथ में व्यापारियों के लिए वणिक् और वाणिज् ये दोनों शब्द प्रयुक्त होते थे। किसी भी जाति का व्यापारी हो वह वाणिज् कहलाता था। वैश्यों के लिए वह शब्द सीमित न था। जैसे-

मद्रवाणिज; मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था।

व्यापारियों के नाम कई पड़ते थे, उनके व्यवसाय की विशेषता से, व्यापार की वस्तुओं से, पूँजी के आधार पर अथवा वे जिन देशों से वाणिज्य करते हों उनके नाम से।

क्रय विक्रयिक-

वह व्यापारी था, जिसका मुख्य काम लेवा-बेंची या खरीद फरोख्त था। यह थोक व्यापारी हुआ। जो सामान एक जगह से भरकर दूसरी जगह ले जाकर बेंचता था, उस व्यापारी का संज्ञा वस्निक होती थी, जो रोकड़ पूंजी व्यापार में लगाता हो, चाहे स्वयं उसकी देखभाल न भी करता हो। एक प्रकार से क्रय-विक्रय औश्र वस्निक का यही परस्पर भेद था कि एक की पूंजी या रोकड़ लगती थी और दूसरा मुख्यतः काम काज देखता था।

प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएँ थीं।

(क) शिल्पियों के संगठन को श्रेणी।
(ख) व्यापारियों के संगठन को नियम
(ग) एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करने वाले व्यापारियों को सार्थवाह कहते थे।

सार्थवाह और श्रेणी दोनों ही महाभारत में प्रयुक्त हुए हैं। सार्थवाह का विशेष उल्लेख जातकों में मिलता है। सार्थ या समूह में व्यापार करने वाले लोगों का सार्थवाह शब्द के जन्म के पहले सांस्थानिक कहा जाता रहा हो ऐसी संभावना है।

वैदिक काल में दो प्रकार के व्यापारियों का उल्लेख है। प्रास्तारिक एवं काठिनिक। पहले व्यापारी खनिज धातुओं में और दूसरे बॉस, बबई, बाध आदि के जंगलों की उपज की ठीकेदारी का काम करते थे। व्यापारिक वस्तुओं के नाम से भी व्यापारी लोग प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे- अश्ववाणिज, गोवाणिज। इसी प्रकार उन देशों के नाम से जिनके साथ वे प्रायः व्यापार करते थे, व्यापारियों का नाम पड़ता था। जैसे-

काश्मीखाणिज, मद्रवाणिज, गान्धारवाणिज। व्यापारियों में जो उच्चस्थानीय या चोटी के होते थे। इन उदाहरणों से प्राचीन काल के अन्तर प्रान्तीय व्यापार का संकेत मिलता है।

प्राचीन काल में प्राच्य देशों के व्यापारी उत्तर-पश्चिम भारत में जाकर व्यापार करते थ, जैसे- विदेह के व्यापारी कश्मीर और गन्धार में तथा मगध के व्यापारी धुरपश्चिम के सौवीर देश में, एवं वाराणसी के व्यापारी उज्जैन या श्रीवार्स्ता में।

भाषा की प्रकृति से ज्ञात होता है कि दूरस्थ प्रदेशों के साथ व्यापार करने वाले व्यक्तियों के लिए इस प्रकार के विशेष शब्दों की आवश्यकता पड़ती होगी।

आपण-

शतपथ काल में दुकान या वाणिज्य के लिए आपण शब्द का प्रयोग किया जाता था। बिक्री की वस्तुओं को पण्य और पणितव्य कहा जाता था। पण्य सामान्य शब्द था। कोई वस्तु भाण्डशाला में बिक्री के निमित्त रखी हो तो भी पण्य हो सकती थी। किन्तु जो वस्तुएँ बिक्री के निमित्त दुकान में सजाकर रखी जाती थीं, उनके लिए क्रय शब्द प्रयुक्त होता था। महाभारत में क्रय के विशिष्ट अर्थ में पण्य का भी व्यवहार हुआ है, जैसे-

"पण्यानां शोभनं पण्यम्"
शान्ति पर्व 186/20

इसका अर्थ है कि जो बिक्री की वस्तुएँ हैं, उनमें वे उत्तम हैं जो उस निमित्त से पण्य रुप में दुकान या बाजार में सजाई हुई हैं।

तेन-क्रीतम-

इसमें सोने, चॉदी और तॉबे की मुद्राओं का उल्लेख है, जो शतपथ काल में व्यवहार में आती थीं। बाजार में माल खरीदने के लिए सिक्कों का चलन आम बात थी। पहले उस स्थिति से लोग आगे बढ़ गए थे, जिसमें वस्तुओं की अदला बदली की व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओं का मूल्य दुकानदार और ग्राहकों के बीच सिक्कों में ही, चुकाया जाता था। इसके बड़े सौदे भी होते थे। जो सामान का एक सहस्र कर्षायण से खरीदा जाय वह साहस्र कहलाता था। हर बड़ी संख्या से भाषा में शब्द नहीं बना करता, परः शत् और सहस्र ऐसी संख्याएं हैं, जो प्रायः भाषा में व्यवहृत होती हैं। अतएव उनके सम्बन्ध में ही सत्य और साहस्र शब्द प्रचलित हो गये। बाजार में सोने के निष्क से लेकर तॉवे के माष तक बीसों प्रकार के सिक्के चलते थे। उनके आधार पर छोटे-बड़े मूल्य की अनेक प्रकार की क्रीत वस्तुओं के लिए बहुत ये शब्द लोक में चालू थे।

अनेक प्रकार के शब्दों में उस समय के उस क्रय-विक्रय की झॉकी मिलती है, जो तॉबे के धेले-पैसे से लेकर हजार - दो हजार - तीन हजार की लागत की वस्तुएँ

लेवा वेंची के रुप में प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त निमान या अदला बदली की भी प्रथा थी।

साई या सत्यानप द्रव्य-

बाजार में किसी चीज की विक्री पक्की करने के लिए दुकानदार ग्राहक से कुछ साई लेता है। इसके लिए सत्याकरोति एवं सत्यापयति ये दो शब्द भाषा में प्रचलित थे। साई का उद्देश्य ग्राहक की ओर से सौदा नक्की करना था। पक्का करने की क्रिया को सत्यंकार कहते थे। यज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा गया है कि-

"सत्यंकार कृतम्"
या0 स्मृति- 2/61

मूल और लाभ-

पूंजी मूल थी। लाभ सहित पूंजी या लागत को मूल्य कहते थे। लाभ वह है जो मूल द्वारा प्राप्त होता है। पहले मूल्य का अर्थ लागत और लाभ तथा दूसरे मूल्य का अर्थ है वह वस्तु जो लागत के समतुल्य हो, अर्थात् उसमें लागत भाई है, उसके अनुरुप या बराबर कीमत की हो।

भाषा में ऐसे शब्द भी चलते थे, जिनसे यह प्रकट हो कि अमुक वस्तु की विक्री से कितना लाभ हुआ। जैसे- पञ्चक, सप्तक, शत्यशतिक, साहस्र जिसमें पॉच, सात, सौ या हजार का मुनाफा हो।

वस्न-

वैदिक काल से ही इस शब्द का आरम्भ हो जाता है। वस्न का अर्थ सर्वत्र पूंजी है। वस्निक शब्द के अर्थों को इस प्रकार समझना चाहिये-

वस्निक वह व्यापारी था, जो स्वयं खरीदने-बेंचने का काम न करके केवल पूंजी लगाता और लाभ का उर्पाजन करता हो। वस्निक का उल्टा क्रय-विक्रयिक था, जो स्वयं लेता बेंचता था।

जो व्यापारी माल बेंचने के लिए शकटों पर भांड लादकर निकलता था, वह जाते समय द्रव्यक कहलाता था। वही अपना माल बेंचकर पूंजी और लाभ कमाकर घर की ओर लौटता था तब वस्निक कहलाता था। वस्निक और द्रव्यक इन दोनों शब्दों के तीन अर्थ

थे। जिन्हें वैदिक साहित्य में हरति, वहति आवहति- इन तीनों शब्दो से प्रकट किया है। उदाहरणार्थ-

"एक व्यापारी वाराणसी से तक्षशिला तक जाकर अपना माल वेंचने के लिए घर से निकलता है, जब वह काशी से चला, तो काशी के व्यापारियों का भाषा में वह 'हरति 'देशान्तरं' प्रापयति, माल लादकर चला है, इस अर्थ में द्रव्यक कहलाता था। मार्ग मे जव वह मथुरा पहुँचता, मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ में द्रव्यक कहते, अर्थात् उनके नगर से होता हुआ माल ले जा रहा है। वही वाणिज् जब अपने गन्तव्य स्थान तक्षशिला मे पहुँचता, तब वहाँ के व्यापारी उसे 'आवहति' अर्थ में द्रव्यक कहते अर्थात् वह हमारे नगर में माल ले आ रहा है।"

इस प्रकार वह माल बेचकर पूंजी कमाता हुआ चलता था। तक्षशिला में बिक्र समाप्त करके वह अपनी पूंजी लेकर वाराणसी की ओर लौटता था, तब वह वस्निक कहलाने लगता था। तक्षशिला के व्यापारी 'हरति' अर्थ में उसे वस्निक कहते अर्थात् वह बिक्री से मिली हुई आय, जिसमें पूंजी और लाभ दोनों शमिल थे, ले जा रहा है। यहाँ भी-

"हरति देशान्तरं प्रापयति"

मार्ग में मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ में वस्निक कहते, अर्थात् वह बिक्री द्रव्य लेकर उनके नगर से जा रहा है। जंब वह वाराणसी पहुँचने को होता, तब वहाँ के लोग उसके लिए 'आवहति' अर्थ में वस्निक शब्द का प्रयोग करते, अर्थात् वह विक्री की रोकड़ ला रहा है।

द्रव्यक व्यापारी अर्थात् माल लादकर ले जाने वाले सार्थवाह कितने भिन्न प्रकारों का माल ले कर चलते थे, उसका थोड़ा सा संकेत शतपथ में इस प्रकार मिलता है, जैसे- वंश (बॉस), कुटज, बल्बज (एक प्रकार का घास, बबई), मूल (कई प्रकार की औषधियॉ) अक्ष (गाड़ी या रथ के पहियों के धुरे), स्थूण (घरों मे लगाने के लिए लकड़ी के लट्ठों की बनी हुई थूनी या खंभे), अश्म (पत्थर की पटिया या भोट और स्तंभ), अश्व, इक्षु, खट्वा (खाट के पाये और पट्टियॉ) इत्यादि।

शुल्क-

व्यापारियों के माल पर शतपथ में जगह-जगह चंगी लगती थी। जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क माल पर पड़ता था, उसके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़ता था। जैसे- पञ्चक, वह माल जिस पर पॉच कर्षायण चुंगी लगी हो। ऐसे ही सप्तक, सहस्रक आदि।

चुंगी घर को शुल्क शाला और वहाँ से प्राप्त होने वाली आय को शौल्क शालिक कहा जाता था। शुल्क शाला राज्य के लिए प्रमुख आय स्थान थी। वस्तुत. शुल्क से ही दक्षिणी भाषाओं में सुंक हुआ जिससे विगड़ कर चुंगी शब्द बना है। छोटे या फुटकर माल पर चुंगी रकम कम ही होती थी। जिस पर आधा कार्षापण या अठन्नी चुंगी लगे उसके लिए चुंगी की भाषा में अर्धिक या भागिक, ये दो शब्द प्रचलित थे। अर्ध या भाग शब्द का अर्थ आधा कर्षापण या अठन्नी होता था।

वैदिक काल में परम्परा से चले आते हुए कुछ करों का उल्लेख मिलता है। जिन्हें वैदिक भाषा में 'कार' कहते थे।

भाष्य में- "अविकटोरण" उदाहरण में कहा गया है कि भेड़ों के हर एक झुंड या रेवड़ के पीछे एक भेड़ चुंगी के रूप में वसूल की जाती थी। नदी या घाट पार करने वाले हर दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध उतराई या चुंगी वसूल किया जाता था।

वणिज्य पथ-

शतपथ काल में एक नगर को दूसरे नगर से मिलाने वाले पथों का उल्लेख मिलता है।

"तद्गच्दति पथि दूतयोः" देव पथादिगण आदि में कई प्रकार के विशेष पथों का उल्लेख है। जैसे- वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शंगुकुपथ, राजपथ, सिहपथ, हंसपथ, देवपथ आदि अन्तिम दो पथों का संवन्ध वायु मार्ग से है।

पालि महानिद्देस में इन पथों का प्राचीन उल्लेख रह गया है। उस सूची में ये नाम हैं जैसे- वण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढ़पथ, शंकुपथ, छत्तपथ, वंशपथए सकुणपथ, मूसिकपथ, दरीपथ, वेत्तचारपथ आदि। इस प्रकार से इन नामों का प्राचीनता सिद्ध होती है।

अजपथ से आने वाला माल "अजपथेन आहृतम्।" अथवा उस रास्ते से जाने वाला व्यापारी "अजपथेन गच्छति" आज पथिक कहलाता है। ऐसे ही शंकुपथ से आने वाला शांकुपथिक था। जिस पथ में केवल एक बकरी के चलने की गुंजाइश हो वह तंग रास्ता अजपथ हुआ। आज भी पहाड़ी प्रदेशों में बकरी और भेड़ों पर छोटे थैलों में माल लाद कर ले जाते हैं। ये ही अजपथ और मेण्ढ़पथ होने चाहिए।

शंकुपथ और भी अधिक कठिन मार्ग था। पहाड़ी मार्गों में जहाँ बीच में चट्टानें आ जाती थीं, वहाँ शंकु या लोहे की कीलें चट्टानों में ठोंक कर चढ़ना पड़ता था। एक जातक में शंकुपथ का उल्लेख आया है।

मूषिकपथ वे पहाड़ी मार्ग थे, जिनमें चट्टान काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी सुरंगे बनानी पड़ती थीं। दरीपथ वे मार्ग थे जिनमें कुछ चौड़ी सुरंगे काटी जाती थीं। वंशपथ और वेत्राचार उन मार्गों को कहते थे, जहाँ नदी के एक किनारे पर लगे हुए लम्बे बाँस या बेतों को झुकाकर उनकी सहायता से दूसरी ओर पहुँचा जा सके। अत्यन्त घने जंगलों में इस प्रकार के उपाय काम में लाये जाते थे।

कालिदास ने भी खगपथ, घनपथ, सुरपथ या देवपथ इन तीन मार्गों का उल्लेख रघुवंश महाकाव्य के 13/19 श्लोक में किया है।

कौशाम्बी से भवन्ति होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान और पश्चिम में भरुकच्छ को मिलाने वाला विंध्याटवी या विन्ध्य के बड़े जंगल का मार्ग प्राचीन भूगोल में कालान्तर पथ के नाम से प्रसिद्ध था।

मधूक (मुलहठी) और मिर्च स्थल पथ नामक मार्ग से उत्तर में लाई जाती थी। यह स्थल पथ दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश से पूर्वी घाट और दक्षिण कोसल होकर आने वाला मार्ग हो सकता है।

कालिदास ने भारत से ईरान को जाने वाले खुश्की के रास्ते को भी सलिपथ कहा है। पैतवल्यु की परमत्थदीपनी टीका के अनुसार-

"द्वारका से मरुभूमि के रेगिस्तान को पार करता हुआ एक मार्ग सौवीर की राजधानी रोरुक को चला जाता था। वहाँ से फिर वही उत्तर की ओर मुड़कर वाहीक, कम्बोज की तरफ चला जाता था।"

(परमत्थ भाग- 3, पृ0 113)

वहीं दूसरी ओर पश्चिम में ईरान को जाता होगा, जो आज भी वैसी ही है।

उत्तर-पथ -

वैदिक काल में उत्तर-पथ का उल्लेख मिलता है। जो माल उत्तर-पथ से आता था, या जो लोग उस मार्ग पर जाते थे, उनके लिए औन्तरपथिक शब्द का प्रयोग उस समय की भाषा में होता था। उत्तर भारत में यातायात और व्यापार की जो महाधमनी गन्धार से पाटिलपुत्र तक चली आयी है, अशोक, शेरशाह, अकबर आदि के समय में भी जो बराबर चालू रही, उसी महामार्ग (राहे आज़म) का प्राचीन नाम उत्तर-पथ था।

मेगस्थनीज आदि यूनानी लेखकों ने इसे "नार्दन रूट" कहा है, जो उत्तरपथ का ठीक अनुवाद है। उन लेखकों के अनुसार इस मार्ग के दो बड़े टुकड़े थे। एक तो वंक्षु से काश्यपीय सागर तक जो ब्लैक सी होकर यूरोप तक चला जाता था। उसी रास्ते में भारतीय माल नदियों के वारिपथ से होता हुआ पश्चिमी देशों में पहुँचता था।

इस मार्ग का दूसरा भाग भारतवर्ष में था, जो गान्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ मार्ग में सिन्धु, शुताद्रि और यमुना पार करके हस्तिनापुर और कान्यकुब्ज प्रयाग को मिलाता हुआ पाटलिपुत्र एवं ताम्रलिप्ति तक चला जाता था।

इस मार्ग पर यात्रियों के ठहरने के लिए निषद्याए, जल के लिए कुएं और छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सर्वत्र एक-एक कोस की दूरी पर सूचना देने वाले चिन्ह बने थे। इसी मार्ग का बीच का टुकड़ा वह था जो तक्षशिला, पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ बाल्हीक तक जाता था और वहाँ पूरब में कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथों से मिलाता था।

इस प्रकार चीन पश्चिमी देश और भारत इन तीनों को मिलाने वाला यह उत्तर-पथ महामार्ग विश्व के वाणिज्य-पथों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण था।

पंचम् परिच्छेद

निमान

वैदिक काल में एक वस्तु से वदलकर दूसरी वस्तु लेना "निमान" कहलाता था, जिसे आज कल अदला बदली कहते हैं। जो वस्तु दी जाती थी उसका उस वस्तु के साथ जो ली जाती थी। मूल्य का अनुपातिक संबन्ध निश्चित करना पड़ता था। या तो दोनो वस्तुओं का मूल्य बराबर होता था, जैसे- सेर भर गेहूं के बदले सेर भर तिल लेना। किन्तु यदि सेर भर जौ देकर दो सेर मट्ठा मिले तो जौ का मूल्य मट्ठे के मूल्य से दुगुना होगा। उस समय कहा जायेगा कि-

"द्विमयमुदश्विद् यवानाम्"।

इसी प्रकार त्रिमयम्, चतुर्मयम उदाहरण भी थे अर्थात् दो भाग मट्ठे का मूल्य एक भाग जौ के बराबर हुआ। जो वस्तु बदले में ली जाती है, वह निमेय और जो दी जाती है वह निमान कहलाती थी। निमेय के एक भाग के मूल्य की तुलना निमान के कई भागों से करने का नियम था।

निमान के कुछ उदाहरण -

निमान तथा निमेय के उदाहरण प्रतिदिन के काम में आने वाली वस्तुएँ हैं जैसे- खाद्य पदार्थ, वस्त्र, छोटे पालतू पशु। वसन या वस्त्र को निमान का साधन माना जाता है। वसन देकर जो वस्तु ली जाती थी उसे वासन कहते थे। वसन नियत लम्बाई और मूल्य का शाटक या धोती थी। कोली जुलाहे वस्त्र देकर बदले में वस्तुएँ लेते थे।

शतपथ काल में गौपुच्छिक उस वस्तु को कहा जाता था, जो गोपुच्छ के बदले ली जाती थी। "डा0 भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदला बदली या सिक्कों की तरह क्रय-विक्रय करने का साधन माना है।" किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूंछ नहीं गाय ही है। गाय के लिए जो चराई का शुल्क दिया जाता था, उसे आज भी पुच्छी कहते हैं।

प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को बेचते समय उसका स्वाम्य परिवर्तन उसी समय पूरा होता था, जब बेचने वाला गाय की पूंछ खरीदने वाले के हाथ में पकड़ा दे। इससे ज्ञात होता है कि गोपुच्छ शब्द गौ के ही पर्याय रूप में लिया जाता था। वैदिक काल से ही गाय अन्य वस्तुओं के साथ अदला बदली करने या मूल्य चुकाने का साधन थी। अतएव जो वस्तु एक गाय के बदले में ली जाती थी, वह गौपुच्छिक कहलाती थी।

भाष्य मे इसे भी बड़े सौदे का उल्लेख है।

"पञ्चभिः गौभिः क्रीतः पञ्चगुः।"
1/2/44

आज भी प्रथा है कि मालिनों से हरी साग सब्जी या फल-फूल आदि लेने के लिए एक दो या तीन अञ्जलि भर अनाज दिया जाता है। उसी के लिए ये घरेलू शव्द थे।

दो या तीन आचित नामक तोल से ली गयी वस्तु द्वयाचिता, त्रयाचिता कहलाती थी। आचित पच्चीस मन के बराबर होता था, जो कि बड़े सग्गड़ या लढ़िया गाड़ी का वोझ माना जाता था। पचास मन या पिचहत्तर मन अन्न देकर बदले में ली जाने वाली वस्तु भूमि हो सकती थी। जिसे पहले द्विकाण्डा क्षेत्र भक्तिः और त्रिकाण्डा क्षेत्र भक्तिः कहा है। उतने नाप की भूमि मोल लेने के लिए पच्चास और पिचहत्तर मन अन्न सम्भवतः दिया जाता था। उसके लिए द्वयाचिता, त्रयाचिता जैसे शब्द प्रयोग भाषा में आए।

चरक संहिता के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प एवं दो शूर्प की एक गोणी होती थी। पॉच गोणी और दस गोणी अन्न से क्रीत वस्तु के लिए भाष्य पञ्चगोणि, दशगोणि शब्दों का उल्लेख है। इतने ही अन्न से पट मोल लिया जाता था। साढ़े बारह मन या पच्चीस मन अन्न की तोल से जो पट लिया जाता था, वह किसी नियत नाप का होता होगा। वैदिक काल में वसन देकर वस्तु मोल लेने की प्रथा का उल्लेख किया गया है। इसः प्रकार वस्तु के लिए वासन शब्द सिद्ध किया है। यह वासन पॉच गोणी अन्न के बराबर होना चाहिए।

कात्यायन ने लिखा है कि-

"वसन मोल लेने के लिए जो ऋण उधार लिया जाता था उसे वासानार्ण कहते थे।"

यह ऋण कितना होता था इस प्रश्न के उत्तर का संकेत "पञ्चगोणिः पटः।" इस उदाहरण से मिलता है, अर्थात् पॉच गोणी अन्न से या उसके बराबर मूल्य उधार लेकर बसन या पट लिया जाता था। प्रश्न यह है कि यह पट कौन सा था और उसका क्या मूल्य होता था। पहले प्रश्न के उत्तर में अनुमान होता है कि धोती या साड़ी ऐसा वस्त्र है जिसकी नाप सदा से प्रायः नियत रही है। जुलाहे उसी नाप की धोती बुनते हैं। ऐसा प्रतिमानित पट या वसन ही "वसनेन क्रीतम्" इस प्रकार के व्यवहार के लिए काम दे सकता था। इस प्रकार के नियत नाप वाले वस्त्र या शाटक के मूल्य पर पतञ्जलि के एक उदाहरण से प्रकाश पड़ता है।

"शतेन क्रीत शत्यं शाटक शतम्"

भाष्य- 5/1/21

इससे विदित होता है कि पतञ्जलि के समय में एक साड़ी या धोती का मूल्य एक कर्षापण था। यदि एक शाटक पञ्चगोणी या साढ़े बारह मन अन्न अथवा एक कर्षापण से मोल मिलता था तो इससे यह जाना जाता है कि पतञ्जलि के समय में एक कर्षापण से साढ़े बारह मन अन्न आता था। शुंग युग से पूर्व मौर्य युग और नन्दयुग में भी वस्तु स्थिति इससे कुछ भिन्न न रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

जब वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं, तभी एक काकणी और अर्धकाकणी जैसे- छोटे सिक्के बाजारों में चलते थे।

इस प्रकार पञ्चगोणि का अर्थ एक शाटक, एक बसन या एक पट या एक धोती के लिए संगत होता है।

इसी प्रकार दशगोणि शब्द आता है, अर्थात् वह पट जो 25 मन अन्न से खरीदा गया हो। इस वस्त्र के सम्बन्ध में अनुमान करने का भी कुछ आधार प्राप्त होता है। इस देश में अन्तरीय और उत्तरीय अर्थात् धोती और उपरहना, इन दो वस्त्रों के पहनने की प्रथा शतपथ काल से रही है। इस पर टिप्पणी करते हुए कात्यायन ने धारण किये जाने वाले वस्त्रों के जोड़े को शाटक युग कहा है कात्यायन और पतञ्जलि के उल्लेख से ऐसा संकेत मिलता है कि उपरना और धोती, अन्तरीय और उत्तरीय परिधानीय और प्रावरणीय इन दोनों प्रकार के शाटकों का नया जोड़ा एक साथ ही बाजारों में बेचा या खरीदा जाता था। तभी पतञ्जलि ने लिखा है कि- एक साथ रखे हुए शाटक युग में यह नहीं मालूम पड़ेगा कि कौन सा उत्तरीय (धोती) और कौन सा अन्तरीय (उपरना) है। फिर वे कहते हैं कि व्यक्ति समझदारी से देखेगा वह यह जान लेगा कि दोनों मे से कौन धोती है, और कौन सा उपरना है। इसी शाटक युग के लिए दशगोणि शब्द प्रयोग में आता था, जिसका मूल्य एक शाटक से दुगुना पच्चीस मन धान्य या दो कर्षापण होता था।

षष्ठम् परिच्छेद

प्रमाण और उन्माद

शतपथ में परिमाण तोल या घनाकार वस्तुओं के लिए और प्रमाण लम्बाई के लिए आया है। पतञ्जलि के अनुसार तोल के लिए उन्माद, आयाम या लम्बाई के लिए प्रमाण और लम्बाई मोटाई चौड़ाई वाली घनाकृति (सर्वतोमान) वस्तुओं के लिए परिमाण शब्द का प्रयोग किया गया है।

"उर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।"

पतञ्जलि के अनुसार काल परिमाण अर्थात् समय की नाप बताने वाले शब्द परिणाम शब्द के अर्न्तगत नहीं आते। लम्बाई की माप के लिए सर्वत्र प्रमाण शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

तुला-

तराजू और उसमें तोली हुई वस्तुएँ तुल्य कहलाती थीं। तराजू के डण्डी के ऊपर बँधी हुई रस्सी बनियों की बोल चाल में प्रग्रह कहा जाती थी।

अथर्ववेद वें द्रुवय शब्द दुंदुभि या नगाड़े के बने हुए बाहरी खोल के लिए आया है।

"द्रुवयो विबद्ध।"
अथर्व0- 5/20/2

लगभग उसी प्रकार के गहरे लकड़ी के पात्र नाप-जोख के लिए काम में आने लगे थे।

उस समय द्रुवय शब्द ऐसे ही नपैनों के लिए रूढ़ हो गया है-

"गड़वाल में नापने के वर्तन को पाथा कहते हैं। प्राचीन काल में सरकारी लगान इन्ही के द्वारा लिया जाता था। कई स्थानों में इन्हें नाली भी कहा जाता है।"

ऐसे ही नपैने के बर्तनों में दो विशेष प्रकार से प्रसिद्ध थे। पाप्य अभी तक पंजाब राजस्थान में पादू तथा उत्तर प्रदेश में प्या कहलाता था। बुन्देलखण्ड में प्या भगोने की

तरह का एक वर्नन होता है। भगोने में कनौठे होते हैं, प्या में नहीं होते। मणनी के बाद खलिहान में एकत्र अन्न की रास को गाँवों मे अब भी प्या से नापते हैं। मब नहीं तो मागलिक रूप में पाँच प्या भरकर नाप दिये जाते हैं।

एक पंजाबी लोकोक्ति है-

"पाई पीसी चंगी कुड़ी खड़ाई मंदी।"

किसी का पाइली भर अनाज पीस देना सुगम है,
पर उसकी लड़की खिलाना टेढ़ा काम है।

एक प्या अन्न का सवा प्या लेने के नियम को सवाई कहते हैं। प्या की नाप साधारणतः पाँच, सात, दस सेर तक होती है।

"बम्बई में पायली लगभग तीन सेर की नाप है।"

जातकों में खेत की रास को नापने वाले अधिकारियों को द्रोण मापक कहा गया है। हिन्दी भगौना, संस्कृत भाग, द्रोणक का ही रुप है। भाग द्रोणक का अर्थ खेत की रास से अलग निकाले हुए राज ग्राह्य अंश या भाग को (इसे राज रास कहा जाता था) नापने का वर्तन हुआ। सुभक्षि की अवस्था में प्रायः यह उपज का छठा भाग होता था।

सम्भव है कि पाप्य और द्रोण की नाप प्राचीन समय में एक की रही हो क्योंकि दोनों ही रास नापने के काम में आते थे।

"कुरुधम्म जातक में द्रोण मापक यह एक राजकीय अधिकारी का नाम ही आया है।"

कुरूधम्म जातक- <u>3/276</u>

प्राचीन काल में नाप तौल के बट्टे सर्वप्रथम नन्द राजाओं ने निश्चित किए। अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा था। तभी से मागध मान यह प्रसिद्धि हुई। क्योंकि कलिंग जनपद स्वतन्त्र था इसलिए कलिंग मान की परम्परा अलग चलती रही। मान स्थिर हो जाने के बाद आढ़क (ढ़ाई सेर), द्रोण (दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिल्कुल सही नाप तौल के लिए सर्वत्र प्रयुक्त होने लगे। जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है-

"अक्त परिमाणानामर्थानां वाचका भवन्ति नैवाधिके भवन्ति न च न्यूने।"

भाष्य- <u>1/4/14</u>

प्राचीन काल में उल्लखित तोल और नापवाची शव्द इस प्रकार हैं।

(1) माष-

यह एक तोल और एक सिक्के का नाम भी था। तॉबे का माष तोल मे पॉच रत्ती और चॉदी का दो रत्ती का होता था।

(2) निष्पाव-

जैन साहित्य में सोना चॉदी रत्न आदि तौलने के लिए सूक्ष्म बटखरों की सूची में निष्पाव भी है। प्रतिमानों में गुंजा कांकर्णा, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक, स्वर्ण ये सोने चॉदी तोलने के काम आते हैं।

इस सूची में गुंजा (1 रत्ती), काकणी (सवा रत्ती), माषक (पॉच रत्ती) की तोल सोना तोलने के काम में आती थी। जैन साहित्य में निष्पाव (प्रा0 निष्पाव) का पर्याय बल्ल दिया है। बल्ल या बाल तीन रत्ती की तोल का नाम था। अतएव निष्पाव भी बल्ल सा तीन रत्ती माना जा सकता है। अनुयोग-द्वार की सूची में सवा रत्ती की काकणी और पॉच रत्ती के माषक के बीच में निष्पाव पठित होने से यह संगत होता है।

(3) शाण-

चरक संहिता में सुवर्ण का चौथाई भाग शाण कहा गया है। इससे शाण की तोल 20 रत्ती के बराबर हुई।

“2 शाण = 1 द्रक्षण, 2 द्रक्षण = 1 कर्ष या सुवर्ण या अक्ष।”

शाण की तोल के विषय में आगे चलकर और भी कई विकल्प मिलते हैं। शाणार्ध उसका आधा दस रत्ती के बराबर ओषधि की स्वल्प मात्रा तोलने के काम में आता था।

“महाभारत में शाण को शतमान का आठवॉ भाग कहा गया है।”
(आरण्यक पर्व- 134-140)

जिससे उसकी पुरानी तोल 12।। रत्ती ठहरती है।

(4) बिस्त-

अमरकोश में बिस्त को कर्ष या अक्ष का पर्याय कहा गया है। जो स्वर्ण तोलने के काम में आता था। चरक में कर्ष, सुवर्ण और अक्ष पर्याय है। अतएव विस्त सुवर्ण का ही पर्याय ज्ञात होता है, जो तोल में अस्सी रत्ती होता था।

(5) अञ्जलि -

द्वयञ्जलि, त्रयञ्जलि प्रयोगों में अञ्जलि शव्द एक परिमाण ही ज्ञात होता है। चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अञ्जलि होती थी, जिसे कुड़व भी कहते थे। दो पल की एक प्रसृति और दो प्रसृति या चार पल की एक अञ्जलि कही गयी है। गरूड़ पुराण में इसका उल्लेख इस प्रकार है।

"अञ्जलिं कुड़वं चै विद्यात् पलचतुष्टयम्।"
गरूड़ पुराण- 202/73

कौटिल्य के अनुसार इसकी तालिका इस प्रकार थी-

चार कुड़व = एक प्रस्थः
चार प्रस्थ = एक आढ़क
चार आढ़क = 1 द्रोड़ = 200 पल = 800 कर्ष = 10 सेर
(अर्थशास्त्र- 2/19)

अतएव कुवड़ या अञ्जलि ढ़ाई छटाक या 12-1/2 तोले के बरावर थी।

(6) कुलजि-

प्राचीन काल में इस शब्द का काफी प्रचार था। इस शब्द पर किसी अन्य स्रोत से अभी तक प्रकाश नहीं पड़ सका, केवल अथर्ववेद के कौशिक सूत्र में यह शब्द दो बार आया है।

"उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिह्रव्य मध्ये निनयत्येवं सुरा कुलिजम"।
कण्डिका- 12,43

कौटिल्य के समय यह बहुत चालू शब्द था। साढ़े बारह पल या 50 तोले या ढ़ाई पाव की तोल प्रस्थ कहलाती थी। अनुमान है कि प्राचीन काल में उसी के लिए कुलिज शब्द का प्रयोग है।

(7) आढ़क-

चरक के अनुसार आढ़क और पात्र एक दूसरे के पर्याय हैं। वैदिक काल में इसका उल्लेख मिलता है। आढ़क की तोल के दो प्रकार मिलते हैं। पहला चरक संहिता में तथा दूसरा अर्थशास्त्र में।

चरक का मान इस प्रकार है-

4 कर्ष	= 1 पल
2 पल	= 1 प्रसृति = (8 तोला)
2 प्रसृति	= 1 अञ्जलि या कुवड़ = 16 तोला
4 कुवड़	= 1 प्रस्थ = 256 तोला
4 प्रस्थक	= 1 आढ़क
4 भाढ़क	= 1 द्रोण = 1024 तोला = 12-4/5 शेर।

इसके विरूद्ध कौटिल्य के चार प्रकार के द्रोण लिखे हैं। उसमें पहला दो सौ पल या आठ सौ तोले अर्थात् आज कल के दस सेर के बराबर होता था।

"अथ धान्यमाषाद्विपलशतं द्रोणमापमानम्"

अर्थशास्त्र- 2/19

इस हिसाब से तोल की यह तालिका बन जाती है-

1 कुवड़	= 12½ तोला	= 2½ छटांक		
4 कुवड़	= 1 प्रस्थ	= 50 तोला		
4 प्रस्थ	= 1 आढ़क	= 50 पल	= 200 तोला	= ढ़ाई सेर
4 आढ़क	= 1 द्रोण	= 200 पल	= 800 तोला	= 10 सेर
16 द्रोण	= 1 खारी	= 160 सेर = 4 मन		
20 द्रोण	= 1 कुम्भ	= 5 मन		
10 कुम्भ	= 1 वह	= 50 मन		

(8) कंस-

चरक के अनुसार कंस आठ प्रस्थ या दो आढ़क के बराबर था। अर्थशास्त्र की तालिका के अनुसार पाँच सेर तथा चरक की तालिका के अनुसार 6-2/5 सेर के बराबर हुआ।

(9) मन्थ-

मन्थ ही ठीक तौल किसी तालिका में नहीं मिलती। सम्भव है मन्थ द्रण का पर्याय है। चरक में कलश और घट को द्रोण का पर्याय लिखा है। कौटिल्य के अनुसार द्रोण 10 सेर की तौल थी। वही सम्भवतः मन्थ की भी तौल थी।

(10) शूर्प-

चरक ने द्रोण को शूर्प माना है, जिसे कुम्भ भी कहते थे। उनकी तालिका के अनुसार-

शूर्प = 4096 तोला = 1 मन 11 सेर 16 तोला

(11) खारी-

कौटिल्य के अनुसार सोलक द्रोण की एक खारी मानी जाती थी। उस हिसाब से उसकी तोल चार मन के बराबर हुई। पतञ्जलि ने भी खारी को द्रोण से बड़ी माना है।

"अधिको द्रोणः खार्याम्।"
5/2/73 पतञ्जलि

खलिहान में रास की तोल खारी में बताई जाती थी। कात्यायन के खारशतादि पर पतञ्जलि ने सौ खारी अर्थात् चार सौ मन और हजार खारी या चार हजार मन तोल की बड़ी रासों का उल्लेख किया है-

"खारशतिको राशिः खारसहस्रिको राशिः।"
वा0- 5/1/58

यह बहुत ही बड़ी राशि हुई। इतनी थारी उपज के लिए लगभग पाँच सौ पक्के बीघे का खेत या चक भूमिधारी की जोत में होना आवश्यक था। खलिहान में मणनी हो जाने के बाद साफ किये हुए अन्न के ढेर को सदा से रास कहा जाता रहा है।

(12) गोणी-

चरक गोर्णी को खारी का पर्याय मानते हुए उसे बड़ी तोल लिखा है। तद्नुसार-

खारी = 8192 तोला = 2 मन 22 सेर 32 तोला।

(13) भार-

अर्थशास्त्र के अनुसार सौपाल या 5 सेर की एक तुला और 20 तुला या ढ़ाई मन का एक भार होता था।

"विंशति तौलिको भारः।"
2/19

अमरकोश में भी यही तोल है। एक भार = 8000 कर्ष या ढ़ाई मन। आज भी तराजू का एक घड़ा 5 सेर और एक पल्लेदार के लादने का बोझ ढ़ाई मन होता है। इसी आधार पर ढ़ाई मनी बोरी आज भी चलती है। महाभार एक अच्छी सग्गड़ गाड़ी का वोझ होना चाहिये, जो लगभग 25 मन माना जाता है। अतः अनुमान होता है कि 10 भार का बोझ महाभार कहलाता था।

आदि पर्व में 10 मनुष्य भार बोझे का उल्लेख आया है-

"कृताकृतस्य मुखस्य कनकस्याग्निवर्चसः।
मनुष्यभारान दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः।।"
आदि0- 2/3/46

अर्थात् सुभद्रा को चायज में श्रीकृष्ण के दस मनुष्य भार सोना दिया जिसमें ढ़ले हुए सिक्के (कृत) और पासा सोना (अकृत) दोनों शामिल थे।

(14) आचित-

अमरकोश के अनुसार आचित सग्गड़ के बोझे को कहते थे।

"शाटको भार आचितः।"
2/9/87

जो 10 भार या 20000 पल या 25 मन का होता था। इससे ज्ञात होता है कि आचित और महाभार दोनों पर्याय थे।

(15) कुम्भ-

अर्थशास्त्र के अनुसार कुम्भ 20 द्रोण के बराबर माना गया है, जो 10 सेर प्रति द्रोण के हिसाब से 5 मन हुआ।

(16) वह-

अर्थशास्त्र के अनुसार 10 कुम्भ का एक वह होता था, जो 50 मन के बराबर था। कालान्तर में वह ही वह कहा जाने लगा। कोशल जनपद में 20 खारी या 80 मन का वह होता था।

"वीसति खारीको कोसलकोतिलवाहो।"
अंगुत्तर (5/173)

सुवन्धु ने 2 खारी का ही मागधक तिलवाह कहा है।

आयाम या लम्बाई की नाप-

शतपथ में सर्वत्र आयाम का अर्थ प्रमाण या लम्बाई ही आया है जिसे निम्नलिखित आयाम प्रमाणों से उल्लिखित है।

(1) अंगुलि -

8 यवमध्य के बराबर प्रमाण की संज्ञा अंगुलि थी। यह आज कल के पौने इच के बराबर हुआ।

(2) दिष्टि या वितस्ति-

ये शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। अर्थशास्त्र में 12 अंगुल की वितस्ति कही गयी है। प्रमाण अर्थ में दिष्टि शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में अत्यन्त विरल है। तथ्य यह है कि वितस्ति शब्द भारतवर्ष में और दिष्टि ईरान और मध्य एशिया की भाषा में अधिक चालू हुआ। मध्य एशिया से मिले हुए खरोष्ठी लेखों के दिठि शब्द प्रायः आता है जो कि ईरानी दिस्तय का पर्याय है। इसका अर्थ एक वितस्ति ही था।

गहराई की नाप-

शतपथ काल में गहराई नापने के भी यन्त्र थे।

परुष-

गहराई नापने के सम्बन्ध में परुष संज्ञक माप का प्रयोग किया जाता था। जैसे द्विपुरुषा-द्विपुरुषी, त्रिपुरुषा-त्रिपुरुषी, परिखा अर्थात् 2 या 3 पुरसा गहरा पानी। एक पुरुष प्रमाण के बराबर गहरी वस्तु पौरुष कहलाती थी।

अर्थशास्त्र में पौरुष नाप तीन तरह की है-

(1) खात पौरुष, परिखा, रज्जु आदि की नाप के लिए 84 अंगुल =1 व्याम =5 फुट 3 इंच।

(2) पौरुष, संभवतः सेना में रंगरूटों की ऊँचाई नाप के लिए = 4 अरत्नि = 96 अंगुल = 6 फुट। इसे दण्ड भी कहते हैं।

(3) अग्निचित्य पौरुष, अग्नि चयन की वेदी बनाने लिए =4½ अरत्नि = 108 अंगुल = 6 फुट 9 इंच।

इस प्रकार दो पुरषा गहरी 15-3/4 फुट होती थी। बौधायन में वेदी निर्माण के लिए पुरुष माप के लिए पुरुष माप को 5 अरत्नि या 7½ फुट लिखा है।

हस्ति-

हस्ती की माप 40 वर्ष के उत्तम जातीय पट्ठे हाथी के प्रमाण से ली जाती थी। उसकी ऊँचाई 7 अरत्नि, लम्बाई 9 अरत्नि और घेरा 10 अरत्नि कहा गया है।

हस्थि-माप के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि वह नाप हाथी की ऊँचाई से न लेकर लम्बाई के आधार पर ही ली जाती थी। यों नौ अरत्नि 13½ फुट हस्ति संज्ञक माप थी।

द्विहास्त या 27 फुट की माप किले के परकोटे की ऊँचाई होती थी। महासुत सोम जातक में 18 हाथ ऊंचे परकोटे का उल्लेख है। आज भी पुराने किले के परकोटे की ऊँचाई 18 हाथ मिलती है।

काण्ड-

खेतों की नाप के सम्बन्ध में इसका उल्लेख आया है। द्विकाण्डी, त्रिकाण्डी रज्जु से ज्ञात होता है कि काण्ड रज्जु संज्ञक नाप का छोटा भाग था। बाल मनोरमा के काण्ड को दण्ड का पर्याय लिखा है, जो 16 हाथ या 27 फुट लम्बा माना जाता था। अर्थशास्त्र में दण्ड को छह कंस या 192 अंगुल =(12 फुट) लिखा है, और 10 अंगुल की रज्जु मानी है। खेतों का निर्वतन संज्ञक क्षेत्रफल 3 रज्जु के बराबर होता था। काण्ड शव्द दो प्रकार की नाप के लिए था।

लम्बी नाप के लिए जैसे- द्विकाण्डी रज्जुः। तथा क्षेत्र भक्ति या क्षेत्रफल के लिए उसका प्रयोग होता था।

किष्कु-

पतंजलि के पारस्करादि गण में इसका पाठ प्रामाणिक माना है।

अर्थशास्त्र के अनुसार 32 अंगुल या दो फुट का साधारण किष्कु होता था। आराकश एवं राज बढ़ई का किष्कु 42 अंगुल या 31½ इंच लम्बा माना जाता था। (क्राकचिक किष्कु) स्कन्धवार, दुर्ग, राजभवन आदि के निर्माण के समय इसी का प्रयोग होता था।

महाभारत में भी किष्कु का उल्लेख है। किष्कु ही यहाँ का पुराना गज था।

योजन-

योजन की नाप 4 क्रोश या 4 गोरुत मानी जाती थी। एक क्रोश 4000 हाथ या 2000 गज का होता था। इस प्रकार योजन = 8000 गज = 4.54 मील या 4 मील 960 गज होता था।

आयाम प्रमाणों की तालिका इस प्रकार है-

8 यव	= 1 अंगुल	= 3/4 इंच
12 अंगुल	= 1 विस्तति या दिष्ट	= 9 इंच
2 विस्तति	= 1 अरत्नि	= 1½फुट
42 अंगुल	= 1 किष्कु	= 2 फुट 7½ इंच
84 अंगुल	= 1 खात पौरुषः	= 5 फुट 4 इंच
216 अंगुल	= 1 हस्ति आयाम	= 13 फुट 6 इंच
192 अंगुल	= 1 दण्ड या काण्ड	= 12 फुट
10 दण्ड	= 1 रज्जु	= 40 गज

सप्तम् परिच्छेद

मुद्राएँ

शतपथ काल में मुद्राओं का प्रचलन था जिसके अन्र्तगत् अधिकांश सिक्कों तथा मुद्राओं की दर से वस्तुओं का मोल-भाव करने के लिए जो नियम लागू थे उसका भी वर्णन मिलता है। मोल-भाव के लिए दो अर्थ प्रचलित थे।

पहला तो यह कि अमुक वस्तु इस दाम से मोल ली गयी। और दूसरा यह कि वह इतने 'कीमत' ही है। जैसे- जिस वनारसी दुपट्टे के लिए वैदिक काल में दो निष्क लागत लगती थी वह द्विनैष्किक कहलाता था। और इतना मूल्य देकर जो खरीदा गया हो वह भी द्विनैष्किक कहा जाता था। स्वभावतः एक का प्रयोग दुकूल के बाजार दर की दृष्टि से और दूसरे का उसकी असली कीमत की दृष्टि से भाषा में होता होगा। यह उचित ही है कि ऐसे विषय से सम्बन्ध रखने वाले प्रकरण में उस समय के बहुत से सिक्कों का हवाला शतपथ काल में दिया गया है। ये सिक्के अवश्य ही शतपथ काल में चलते थे। उनमें से अधिकांश एक सदी बाद कौटिल्यके समय में भी चालू थे। यहाँ हम सोने, चाँदी और ताँवे के सिक्कों का अलग-अलग वर्णन करेंगें।

"आदरणीय श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र [Ancient Indian Numirnratics] पर सन् 1921 में एक व्याख्यानमाला दी थी। उसमें वैदिक कालीन सामग्री का अच्छा सन्निवेश था। हम उसके अनुगृहीत हैं।"

सोने के सिक्के

(1) निष्क-

निष्क वैदिक युग में एक सुवर्ण का आभूषण था। श्री मैकडानल और कीथ का विचार था कि निष्क एक सिक्का भी रहा होगा। अथर्ववेद में सौ सुवर्ण निष्कों का उल्लेख है।

"शतं निष्का हिरण्ययाः।"
20/131/5

"निष्क की तरह बाँध कर पहनो"

इस कथन से सूचित होता है कि निष्क मुख्यतः कंठ का आभूषण था। अथर्ववेद में भी श्री निष्कग्रीवः और ऐतरेय ब्राह्मण में निष्क कण्ठी स्त्रियों का उल्लेख है। निष्क पहनने वाले पुरुष को निष्की तथा स्त्री को निष्किनी कहते थे।

(श0- 13/4/1/8)

वैदिक संहिताओं की सामग्री से निश्चित रूप में निष्क को सिक्का मानना कठिन है। यद्यपि यह सम्भव कि निष्क गहने की तोल और आकृति व्यवहार में निश्चित मान की हो गयी हो और तब लेन-देन या अदला-बदली या गिरवी रखनें में निष्क का व्यवहार होने लगा हो।

बाद के युगों में तो निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गयी थी, ऐसा निश्चित ज्ञात है। जातक, महाभारत आदि की सामग्री का एक ही ओर संकेत है।

"डा0 भण्डारकर के मत से जातकों में जो निष्क का जिक्र है उससे निष्क सोने का सिक्का ही मालूम होता है।"

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है क्या उसी के मेल में उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे? अंग्रेजी पौंड सोने का सिक्का है। उसी के फुटकर सिक्कों में आधे पौंड का सिक्का भी सोने का है। इसी तरह पहले समय में निष्क के वाद अर्धनिष्क और पाद निष्क के अस्तित्व का अनुमान होता है।

मनु ने निष्क को तोल में 4 सुवर्ण या 320 रत्ती के बराबर कहा है। अतएव पादनिष्क की तोल सुवर्ण के बराबर हुई।

"डा0 भण्डारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा के लिए गौओं के सींगों में जो 20000 पाद सिक्के बाँधे थे।"

"गोसहस्र के प्रत्येक श्रृंग में दस-दस पाद।" वे सोने के ही थे। यह संभव है, क्योंकि उस यज्ञ को "बहु दक्षिण" कहा गया है।

पण, कार्षापण का छोटज्ञ नाम था। उसके साथ पढ़ा होने से पाद चांदी के कर्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद माप का सिक्का ताँबे का था। चाँदी के पण और ताम्र माष के बीच में पढ़ा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नहीं माना जा सकता। इससे 1/4 कर्षापण का अर्थ लेना अधिक संगत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और जातकों में पाद कर्षापण का उल्लेख भी है।

(2) सुवर्ण-

वैदिक काल मे सुवर्ण की मुद्राओं का प्रचलन था।

"द्वौ सुवर्णौं परिमाणस्य द्विसुर्वणम्।
तदेव धनमिति द्विसुवर्ण धनम्।।"

अर्थात् दो सुवर्ण सिक्कों की पूंजी। वह पूंजी जिसकी हो उसको भी द्विसुवर्णधनः कहेंगे। हिरण्य और सुवर्ण में अन्तर है।

"डा0 भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि अनगढ़ हुण्ड की संज्ञा हिरण्य थी। उसी के जब सिक्के ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे।"

{प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र से}

"कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थात् 80 गुञ्जा (लगभग 150 ग्रेन) के बराबर होता था। पुराने स्वर्ण तो मिले नहीं हैं, गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनका वजन प्रायः इतना ही मिलता है।" साम जातक में "हिरञ्ञ सुवण्ण" दोनों शब्द साथ आते हैं।

"दासकम्मकारादयोऽपि हिरञ्ञसुवण्णादीनि गहेत्वा पलायिंसु।"

{साम जातक संख्या- 540}

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में "हिरण्य सुवर्णम" पद का अर्थ करते हुए श्री शाम· शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा (bar gold) और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का (eoined gold) किया है।

कर्षापण की तोल भी 80 रत्ती के बराबर थी इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम 'हाटक कर्षापण' है। जात रूप से सुवर्ण के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिए आवश्यक था कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकड़े हो, जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्कों से ही प्रकट हो सकती है। यह हाटक पद वहीं आ सकता है, जहां अगला पद, जो हाटक का विकार है, परिमाणवाची हों।

सोने के पात्र या सोने की बनी छड़ी के लिए हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा।

कात्यायन ने कहा है कि सुवर्ण और शतमान का ग्रहण भी करना चाहिये-

"सुवर्णशतमानयोरूपसंख्यानम्"

उससे अध्यर्ध सुवर्ण और द्विसुवर्ण जैसे प्रयोगो को सिद्ध किया गया है। पर इतना तो निर्विवाद हो जाता है कि कात्यायन के समय में सुवर्ण नामक सोने के सिक्के का अस्तित्व था। कौटिल्य की साक्षी भी ऐसी ही है। पर इस संवन्ध में आश्चर्य की बात यह है कि चाणक्य के समय का सुवर्ण का कोई भी सिक्का अभी तक नहीं मिला। यद्यपि उस समय के चॉदी के कर्षापण नामक सिक्के लगभग पच्चास हजार मिल चुके है।

(3) सुवर्ण माषक-

उदय जातक की कथा में एक जगह सुवर्ण मासकों से भरी हुई सुवर्ण पात्री का वर्णन मिलता है।

"सुवण्णमासकपूरं एकं सुवण्णपातिं आदाय"
{उदय जातक- 458}

इस कहानी में सुवर्ण माषकों से भरी सोने की पात्री (तश्तरी), सुवर्ण माषकों से भरी चॉदी की पात्री और चॉदी कार्षापणों से भरी तॉबे की पात्री को एक दूसरे से कम मूल्य की बतायी गयी है। ज्ञात होता है कि 32 रत्ते के चॉदी के कर्षापण का मूल्य सोने के एक माषक = (5 रत्ती) से कुछ कम था।

यों तो जातक युग में सोने और चॉदी का आनुमानिक मूल्य 1:7 रहा होगा।

चॉदी की आहत मुद्राऐं-

चॉदी की आहत मुद्राएं इस प्रकार थीं।

(1) शतमान-

"शतमानेन क्रीतम शातमानम्" अर्थात् शतमान मुद्रा मे मोल ली हुई वस्तु के लिए 'शातमान' पद का प्रयोग होता था।

शतपथ ब्राह्मण में शतमान मुद्रा का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

"तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा"
{श0 ब्रा0 5/5/5/16}

इसी प्रकार से-

"हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णशतमानं तस्योक्तम्।"
{श0 ब्रा0 8/2/3/2}

सोने की दक्षिणा में शतमान दिया जाता था पर समय क्रम से शतमान क्रम का अधिक संवन्ध चांदी के सिक्के से होने लगा।

शतपथ में कहा है कि-

"देवताओं के दोनों रूपों के कारण विचित्रता के लिए सोने और चांदी दोनों की दक्षिणा देना चाहिए। वह दक्षिणा शतमान होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य की आयु सौ वर्ष होती है।

"रजत हिरण्यं दक्षिणा नानारुपतया शतमानं भवति शतायुर्वे पुरुषः।"
{श0 ब्रा0- 13/2/3/2}

यहाँ सौ मान या भागों वाले राजत शतमान का उल्लेख है। कात्यायन श्रौत सूत्र में सुवर्ण शतमान के साथ-साथ राजत शतमान का सुनिश्चित उल्लेख है-

"द्वादश कपालान्निर्वपति भिन्न तन्त्रान् शतमान दक्षिणान् मध्यमस्य राजतः।"
{का0 श्रौ0 20/2/5}

वैदिक संहिताओं मे ऐसा प्रमाण नही है कि शतमान सौ रत्ती का था। संहिता ग्रन्थों में या रत्ती तोल का प्रायः उल्लेख आया है। तैतरीय संहिता में कहा गया है कि बाजपेय यज्ञ में एक-एक कृष्णल या रत्तिका बांटी जाती थी। अतएव यह अनुमान समीचीन है कि शतमान सिक्के की इकाई यही कृष्णल रहा हो। सौ रत्ती तोल का चांदी का सिक्का 180 ग्रेन तोल में रहा होगा।

यह ठीक है कि मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार शतमान की तोल 320 रत्ती कही गयी है। पर यह प्रमाण वैदिक युग और जनपद युग के लिए सत्य न था, वाद के युगों में बनाया गया। जब भूमि का लगान 32 रत्ती वाले चांदी के कर्षापणों में दिया जाना निश्चित हुआ। (शुंग-कुषाण तथा गुप्त युग) तब कर्षापण या पुराण या धरण की दस गुनी तोल की कल्पना की गयी और उसे शतमान नाम दिया गया। यह 320 रत्ती का कोई शतमान सिक्का न था, क्योंकि एक भी वैसा उदाहरण आज तक कहीं नहीं मिला।

वल्कि हिसाब किताब के लिए चॉदी की एक कल्पित तोल मान ली गई थी। लेकिन सौ रत्ती वाले चॉदी के वास्तविक सिक्के तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त हुए है। उनकी पहचान शतमान सिक्के से करना युक्ति संगत और प्रमाण सामग्री के अनुकूल है। ये मुद्राएँ शलाकाकृति हैं, और उनकी तोल 1773 ग्रेन या ठीक सौ रत्ती के लगभग है। ते सिक्के चौथी शदी ई0पू0 के हैं। सब विद्वान ऐसा मानते हैं। यह सम्भावित है कि सातवीं शदी ई0पू0 से चौथी-तीसरी शदी ई0पू0 तक अर्थात् महाजनपद और नन्दयुग में शतमान सिक्के चलते थे।

(2) शाण-

शतपथ में शाण सिक्के से क्रीत वस्तुओं के लिए लोक में प्रचलित कई शव्दों का उल्लेख आया है।

कात्यायन के समय में भी यह सिक्का काफी चालू था जिसके कारण विविध शब्द रूपों का व्यवहार हो गया था।

महाभारत में शाण सिक्के के मूल्य का सबसे निश्चित उल्लेख आया है-

"अष्टोशाणाः शतमानं वहन्ति।"
{अरण्यक पर्व- 134/14}

सौ रत्ती वाले शतमान में आठ होते थे।

अतएव एक शाण की तोल 12-1/2 रत्ती = (25 ग्रेन) हुई। चरक ने शाण तोल को सुवर्ण या कर्ष का एक चौथाई लिखा है, जो 20 रत्ती हुआ। हो सकता है शाण सिक्के की पुरानी तोल को कुछ बढ़ाकर यह नया मान बनाया गया, जैसा कि चरक की द्रोण आदि तोलों में भी बढ़ाया हुआ मान मिलता है। शाण शतमान का अष्ट भाग था उसकी वास्तविक तोल पुराने चॉदी के सिक्के मिल गए हैं।

अष्ट भाग या पादार्ध शतमान का दुगुना अर्थातफ द्विशाण के बराबर पाद शतमान सिक्का, उससे बड़ा तीन शाण का सिक्का, उससे बड़ा चार शाण या अर्धशतमान सिक्का भी चलता था।

प्राचीन कोशल जनपद के कुछ सिक्के अर्धशतमान और सोनकर से प्राप्त सिक्के (तोल 21 ग्रेन) पदार्धशतमान या शण से मिलते हैं।

अध्याय तृतीय

शिक्षा और साहित्य

शतपथ कालीन शिक्षा की दशा का जो वर्णन किया गया है उसका उल्लेख इस प्रकार से है।

प्रथम परिच्छेद

शिक्षा

शतपथ काल के विभिन्न साहित्यिक रूप ग्रन्थ रचना के प्रकार, शिक्षा-संस्थाएं, आचार्य और अन्तःवासी छात्र, शिक्षण प्रणाली, अध्ययन के विषय एवं ग्रन्थों के नामों के सम्बन्ध में बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है।

छात्र-

शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। इसलिए न केवल शिक्षा बल्कि ज्ञान संचय की चर्चा या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरू और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बँधे होते थे। यह सम्बन्ध योनि सम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभाव पूर्ण था। शिष्य अन्तःवासी के रूप में आचार्य के साथ निवास करते औश्र सच्चे अर्थो में आचार्य के जीवन से प्रभावित होते थे। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्या संस्थान से अन्य ब्रह्मचारियों के साथ विद्याध्ययन करते थे। शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में इन चरणों का व्यापक महत्व था।

आचार्य के जीवन का वेग और शक्ति उनके द्वारा संस्थापित चरणों के माध्यम से प्रकट होती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णो के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे। गुरू से पढ़ने वालों के लिए छात्र यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था। छात्र शब्द के मूल में यह कल्पना बड़ी मधुर है कि वह आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था। यह एक आध्यात्मिक भाव था जिसके कारण शिष्य गुरू के प्रति विशेष जागरूक रहकर अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था।

"गुरूकार्येष्ववहितः।"

जैसा काशिका ने लिखा है वह अपने गुरू की त्रुटियों की और मन को ले जाकर कभी अपनी शक्ति का क्षय नहीं करता था।

"ताच्छि द्रावरण प्रवृन्तः।"

ब्रह्मचारी को स्नातक बनाते समय आचार्य की भावना भी यही रहती थी कि जो मेरा सदाचार हो उसी पर ध्यान देना, त्रुटियों पर नहीं। छात्र दो प्रकार के होते थे।

(1) दण्डमाणव।
(2) अन्तेवासी।

दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था। वह अभी छोटी श्रेणियों में सीखतर छात्र होता था। जैसे पतञ्जलि ने लिखा है कि वेद की पढ़ाई शुरू होने के पहले उसकी माणव संज्ञा होती है। तत्वबोधिनी के अनुसार दण्डमाणव वह था जिसका उपनयन न हुआ हो। दण्ड रखने के कारण वे छात्र दण्डमाणव कह जाते थे। पलाश का वह दण्ड आषाढ़ कहलाता था।

मतंग जातक में माणव को आयु में बाल कहा है। वे अपना डण्डा लिए हुए आश्रम में इधर से उधर फिरते दिखाई देते थे।

जब वेद पढ़ने का समय आता है तो आचार्य माणव का उपनयन संस्कार कराते थे। उसके लिए माणवकमुनपते यह वाक्य भाषा में प्रचलित था। इस विशेष कर्म को आचार्यकरण कहते थे। इस संस्कार के वाद वह माणव सच्चे अर्थों में आचार्य का सामीप्य प्राप्त करता था।

"आचार्यकरणमाचार्य किया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः संपद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानमाचार्यी कुर्वन्माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः।"

{काशिका}

मनसा, वाचा, कर्मणा आचार्य के समीप पहुँचा हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। भाष्य में कमण्डलुपाणि छात्र का उल्लेख है। चरण में पढ़ने वाले शव्द अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे।

छात्रों का कर्तव्य-

उपनयन हो जाने के बाद छात्र और गुरू दोनों के बीच जो नया विद्या का सम्बन्ध बनता था उससे वे दोनों एक दूसरे के लिए उपस्थानीय बन जाते थे। अर्थात् शिष्य

गुरू के समीप आकर उसकी सेवा करे और उससे अध्ययन करे। और गुरु अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित करे।

"उपस्थार्नीयोऽन्तेवासी गुरवेः।"

दोनों के लिए यह अत्यन्त मधुर सम्बन्ध बनता था। अध्यापन कराने की दशा में आचार्य को अनूचान एवं प्रवचनीय कहते थे। अपने पिता से ही अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी पितुरन्तेवासी कहलाते थे। आचार्य कुल में आचार्य का पुत्र भी पर्याप्त महत्व रखता था। अतएव उसके लिए भाषा में "आचार्य-पुत्र" इस विशेष शब्द की व्युत्पत्ति हुई। इसी प्रकार राजपुत्र और ऋत्विक पुत्र भी अपने पिता की पदवी से अभिहित होते थे। स्वाभाविक है कि दूसरे शिष्य आचार्य पुत्र का विशेष सम्मान करते हैं।

गुरु-

शास्त्रों में चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया गया है जिसका वर्णन शतपथ में इस प्रकार से मिलता है।

(1) आचार्य
(2) प्रवक्ता
(3) श्रोत्रिय
(4) अध्यापक।

(1) आचार्य-

इनमें आचार्य का स्थान सर्वोच्च माना जाता था। शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। अथर्ववेद में आचार्य करण प्रक्रिया का वर्णन आया है जो इस प्रकार है।

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः"

अर्थात् आचार्य उपनयन संस्कार कर के ब्रम्हचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट कराता है।

(2) प्रवक्ता-

आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। शाखाग्रंथ, ब्राह्मण, श्रौत सूत्र आदि का प्रवचन करने वाल आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। वेद और वेदागों का अर्थ सहित अध्यापन इनका कार्य था।

श्रोत्रिय-

छन्द या वेद की शाखाओं को कण्ठ करने वाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे। इनका सम्बन्ध विशेषतः वेद के पारायण से था। वे संहिता, पद, क्रम, दण्ड, जटा, घन आदि के पाठों के अनुसार शाखा-ग्रन्थ और उनके ब्राह्मण आदि को स्वयं कण्ठ करते थे एवं विद्यार्थियों को कराते थे। इनके निर्देश में रहकर विद्यार्थी का जो वर्ग पदपाठ कण्ठस्थ करता वह पदक कहलाता था।

"क्रमोदिभ्योबुन।"

वे श्रोत्रिय गुरु भी अपने कण्ठस्थ किये हुए वेद पाठ के आधार पर उस-उस नाम से प्रसिद्ध होते थे। ज्ञात होता है कि बड़े-बड़े चरणों में भिन्न-भिन्न पाठ कण्ठस्थ कराने के लिए भिन्न-भिन्न अध्यापक होते थे।

अध्यापक-

वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यायन कराने वाले गुरु अध्यापक कहलाते थे। माणवक आदि बाल कक्षा को भी ये लोग पढ़ाते थे। इन्हें आगे चलकर उपाध्याय कहा जाने लगा। भाष्य में कण्डिकोपाध्याय नाम मिलता है।

कुत्सित छात्र-

नियमों का उल्लंघन करने वाले छात्रों की निन्दा के लिए कई प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते थे। जैसे- तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक अर्थात् जो अपने तीर्थ या गुरु में कौए की तरह चंचल व्यवहार करे, या गुरुकुल में पूरे समय तक निवास न करके शीघ्र बदलता रहे।

"यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्चते तर्थकाक इति।"
{भाष्य}

इसी प्रकार कट्वारूढ़ शब्द उस छात्र के लिए प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन विताने लगा हो। बाल्मीकि रामायण में

कठकालाप चरण के माणवों के विषय में कहा है कि वे लोग बड़े जिह्वा लोलुप "स्वादुकामाः" और आलसी थे, और पढ़ाई का वहाना वनाकर कामकाज में गुरु को धुन्ता दे जाते थे।

छात्रों के नामकरण-

छात्रों के नाम करण के तीन आधार थे।

(1) अध्ययन के विषय के अनुसार।
(2) जिस चरण में शिक्षा प्राप्त करते हो उसके अनुसार।
(3) जिस गुरु के यहाँ शिक्षा या जिसके ग्रन्थ पढ़ते हो उसके नाम के अनुसार।

विषय के अनुसार छात्रों का नाम करण का विधान था।

क्रतु या सोमयज्ञों का अध्ययन करने वाले छात्र उन यज्ञों के नाम से अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूचिक, वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक इस प्रकरण में उक्थादिगण महत्वपूर्ण है, जिसमें अनेक प्रकार के नए-नए अध्ययन विषयों का उल्लेख है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओं में भी छात्र अल्पकालिक अध्ययन के लिए कुछ विशेष या ग्रन्थ चुन लेते थे। ऐसे छात्रों को वार्षिक, शारदिक, हैमन्तिक और शैशिरिक कहा जाता था। वर्तमान में कुछ इसी प्रकार से वसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि ऋतुओं में मास दो मास की विशेष व्याख्यान मालाएँ आयोजित की जाती हैं।

वैदिक छात्रों का नामकरण-

चरणों के अन्दर भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे। उनके अध्येता छात्रों का नाम उस छन्द ग्रन्थों के नाम से रखा जाता था। जैसे तित्तिर आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुतः स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण इन दोनों का कोई स्वतन्त्र नाम न था। बल्कि उनके पढ़ने वाले छात्र और पढ़ाने वाले गुरुओं के नाम से ही ग्रन्थों का नाम लोक में प्रचलित होता था।

तद् विषयता का नियम-

शाखा और ब्राह्मण के पढ़ने पढ़ाने वालों के लिए किया जाता था। अतएव वैदिक मूल ग्रन्थों का नाम सदा उनके छात्रों का ही बोधक होता था, जैसे कठ आचार्य द्वाराः प्रोक्त जो कठ शाखा थी, उसके पढ़ने-पढ़ाने वालों का नाम 'कठा' होता था। कठ जो

साधारणतः कठ प्रोक्त पुस्तक का नाम होना चाहिये था, उन सब छात्र और गुरुओं का बोध कराता था, जो उसको पढ़ते (अर्धीयान) और पढ़ाते (तद्वेद) थे। मूल कठ शब्द आचार्य के नाम से और उसकी शाखा के नाम से एक सीढ़ी आगे बढ़कर चरण का नाम बन गया और भी सैकड़ों बैदिक शाखाएँ और उनके ब्राह्मण ग्रन्थ थे, जिनको केन्द्र मानकर चरणों की स्थापना हुई। यही तद् विषयता का नियम था। अर्थात् छन्द और ब्राह्मण का नाम करण स्वतन्त्र न होकर [illegible] परक था होता था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह अथवा उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नये व्याख्या ग्रन्थों की रचना भी करने रहते थ। उनकी शिष्य परम्परा में आगे आने वाले लोग भी उन व्याख्यानों और विमर्शों में अपना भाग जोड़ते रहते थे, किन्तु उन सब का नामकरण स्वतन्त्र न होकर चरण के नाम से ही किया जाता था। जैसे- तित्तिरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण में तैत्तिरीय शाखा, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तरीय उपनिषत्, तैत्तरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त साहित्य तैत्तिरीय चरण के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था।

जब तक वैदिक चरणों का संगठन दृढ़ रहा नामकरण की यही पद्धति चालू रही। आगे चलकर वैदिक चरणों के अर्न्तगत कल्प साहित्य की भी रचना हुई, जिसमें श्रौत सूत्र आदि थे। कुछ चरणों में धर्म सूत्रों का भी निर्माण हुआ। इन सब का नाम उसी पुरानी शैली से चरण के नाम के अनुसार रखा गया। स्वाभाविक है कि सब चरण या शिक्षण संस्थाओं का समान महत्व न था। उनमें कुछ प्रधान या बड़े और कुछ छोटे चरण थे। प्रधान चरणों में तो छन्द (शाखा), ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, प्रातिशाख्य, श्रौत सूत्र आदि पूरे या अधिकांश साहित्य का विकास हो गया था, पर छोटे चरण उसी परम्परा में एकाध सूत्र ग्रन्थ की बना पाते थे। वैदिक शाखाओं में कुछ का अधिक महत्व था, कुछ का कम था, कुछ में स्वतन्त्र सामग्री अधिक होती थी, कुछ में नाम मात्र का पाठ परिवर्तन रहता था।

छात्रों का बढ़ता हुआ एक नया वर्ग ऐसी भी था जो चरण या वैदिक शिक्षा संस्थाओं से स्वतन्त्र रहकर उन ग्रन्थों का अध्ययन करता था, जिनकी रचना चरणों की सीमित परिधि से बाहर बड़े बेग से हो रही थी। वस्तुतः यह महान् आचार्यो का युग था। जो विद्यार्थी जिस आचार्य के शास्त्र या ग्रन्थ का अध्ययन करता वह उसी के नाम से पुकारा जाता था। वैदिक चरणों का क्षेत्र बहुत व्यापक था, किन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतन्त्र आचार्य और उनके शास्त्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी।

स्त्री शिक्षा-

वैदिक काल में छात्रों के नामकरण के जो नियम थे वही छात्राओं के लिए लागू थे। उदाहरण के लिए आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री आपिशाला ब्राह्मणी कहलाती थी। भाष्य से ज्ञात होता है कि मीमांसा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियों के लिए विहित था। जैसे- काशकृत्स्नि आचार्य के मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करने वाली छात्रा "काशकृत्सना" कही जाती थी।

"एवमपि काशकृत्स्निा प्रोक्तामीमांसा काशकृत्सनी, काशकृत्मर्नीमर्धाते काशकृत्सना ब्राह्मणी।"

{भाष्य- 4/1/14}

भाष्य में स्त्री छात्राओं के नामकरण जो प्रकरण हैं, उसकी पृष्टभूमि ऐसी है मानों स्त्रियों की उच्च शिक्षा समाज की एक सामान्य प्रथा हो। आचार्य की स्त्री तो आचार्यानी कही जाती थी किन्तु जो स्वयं आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र में ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य करती थीं और छात्राओं के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थी उन्हें आचार्या कहते थे।

पतञ्जलि ने तो एक उदाहरण में यहाँ तक संकेत किया है कि इन आचार्याओं से पुरुष छात्र भी पढ़ते थे, जैसे औदमेध्या आचार्या से पढ़ने वाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से औदमेद्य कहलाते थे। षष्टिपथ और शतपथ का अध्ययन करने वाली स्त्रियाँ षष्टिपथिकी और शतपथिकी कहलाती थीं।

अध्ययन के नियम-

वैदिक काल में शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे। इसी के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहता था। काशिका में ऐसे छात्रों का उल्लेख किया गया है जो श्मशान में या चौराहे पर अध्ययन करने के कारण श्मशानिक और चातुष्पथिक कहे जाते थे। जानबूझ कर श्मशान में जाकर तो कोई विद्यार्थी क्यों पढ़ता? ज्ञात होता है कि जब श्मशान यात्रा में जाने के कारण सब छात्र पाठ वन्द रखते उस दिन भी जो वहाँ पढ़ता उसके लिए ऐसा निन्दा भरा विशेषण प्रयुक्त होता था। ऐसे ही जब किसी हाट मेले में जाने के कारण औरों का पाठ बन्द हो जाता तब जो भी पढ़ता था वह चातुष्पथिक कहलाता था। चातुर्दशिक और आमावस्यिक उदाहरणों से सूचित होता है कि चतुर्दशी और अमावस्या को भी पाठ वर्जित था क्योंकि ये दर्शपौर्णमास इष्टि के दिन थे। इन शब्दों में जो निन्दा का भाव था वह स्थायी नहीं था, उसी काल तक के लिए होता था।

एक ही चरण में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे। एक की गुरु के पास अध्ययन करने वाले छात्रों को सतीर्थ्य कहा जाता था। जिन संस्थाओं में अध्ययन के विषय और ग्रन्थों का इतना विस्तार था वहाँ यह आवश्यक था कि छात्रों को कक्षा या वर्गों में बाँटा जाय। यह वर्गीकरण दो प्रकार से होता था। एक तो जो छात्र एक विषय का एक समय में अध्ययन करते उनकी एक कक्षा बना दी जाती थी।

कभी-कभी ऐसे एक से अधिक कक्षाओं के छात्र कार्य विशेष के लिए एक साथ मिलकर भी अपने विशेष वर्ग बना लेते थे। लेकिन शर्त यह थी कि उनकी कक्षाएँ पृथक होते हुए भी पाठ्यक्रम के पौर्वापर्य से एक दूसरे के वाद पड़ती हों, अर्थात् उनमें अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो। उदाहरण के लिए क्रमपाठ पढ़ने वाले छात्र "क्रमकाः" कहलाते थे। ऐसे ही पदपाठ की कक्षा वाले पदकाः कहलाते थे। पदपाठ का अध्ययन पहले और उसके तुरन्त बाद क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता था। अतएव पदक और क्रमक ये दो कक्षाएँ एक दूसरे के सन्निकट थीं। उनमें और किसी कक्षा का व्यवधान न था।

जब कभी निमन्त्रण आदि के लिए छात्रों को बाहर जाना पड़ता था तो आचार्य इस प्रकार कहते थे- "पदक-क्रमकं गच्छतु" अर्थात् आज पदक और क्रमक छात्र वहाँ जाएँ। पद पाठ के बाद क्रमपाठ पढ़ने की प्रथा थी, वैसे ही क्रमपाठ के वाद वृन्ति का अध्ययन किया जाता था। क्रम और वृन्ति इन दोनों का प्रत्यासन्न पाठ किया जाता था।

प्राचीन काल में सम्भवतः युग सूत्र में ऐसी प्रथा थी कि छात्रों की शिक्षा का प्रारम्भ व्याकरण से किया जाता था, और उसके बाद उन्हें वेद का पारायण कण्ठ कराया जाता था। बाद में शिक्षा का स्तर कुछ नीचे आ गया और छात्रों की पढ़ाई वेद पढ़ने से प्रारम्भ होती और बाद में वे लोग पढ़ाई छोड़कर अन्य धन्धों में लग जाते थे। वेद कण्ठ करने के बाद कुछ संख्या छात्रों की ऐसी थी जो अवश्य व्याकरण का अध्ययन करती थी।

गुरु मुख से सुनकर मन्त्रों का पाठ कण्ठ करने वाले छोटे छात्रों का एक चित्र पतञ्जलि ने इस प्रकार दिया है-

"जब आयु में छोटे ऐसे छात्र पाठ कण्ठ करने या सुनाने में अशुद्धि करते हैं तो कण्डिका घोखाने वाले उनके उपाध्याय चनकट रसीद करते हैं।"

पाठ्यक्रम-

भिन्न-भिन्न कक्षाओं के वर्गीकरण से सूचित होता है कि शिक्षण संस्थाओं में पाठ्य विषयों का एक क्रम निर्धारित किया जाता था। माणव अन्तेवासी, चरक ये तीनों शब्द छात्रों के विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक थे। ऐसे ही अध्यापक, प्रवक्ता, आचार्य ये शब्द: गुरुओं के क्रमिक पदों के सूचक थे, जिनका सम्बन्ध शिक्षण के क्रम से था।

पाठ्यक्रम के अध्ययन में छात्र की जो प्रगति होती थी उसे ब्यक्त करने के लिए भाषा में कुछ प्रयोग और शब्द चल पड़े थे। ग्रन्थ के नाम से पढ़ाई का दर्जा सूचित किया जाता था। किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति को प्रकट करने के लिए भाषा में विशेष शब्दों निर्माण हुआ था। जैसे- "साग्नि अधीते।" वह अग्नि ग्रन्थ की समाप्ति तक अध्ययन करता है।

{शतपथ ब्राह्मण काण्ड 6 से 9 तक की संज्ञा अग्नि थी क्योंकि उसमे अग्नि चयन का विषय था।}

किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति के लिए 'वृत्त' कहा जाता था। "णेरध्ययने वृतम्।" जैसे देवदत्त ने कहाँ तक पढा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था- "वृत्तो गुणो देवदत्तेन" (देवदत्त व्याकरण शास्त्र में गुण प्रकरण तक पढ़कर समाप्त कर लिया है।) इस प्रकार या तो ग्रन्थ के नाम से या विषय के नाम से अध्ययन की प्रगति सूचित करने की प्रथा थी।

वर्ष भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओं के अनुसार कर लिया गया था। प्रत्येक ऋतु मे जो विषय पढ़ाये जाते थे उनका संकेत ऋतु के नाम से सूचित किया जाता था और उसके अध्येता छात्र भी उसी नाम से पुकारे जाते थे। जैसे-

'बसन्त' संज्ञक ग्रन्थों से वासन्तिक, वर्षा से वार्षिक, शरद से शारदिक, हेमन्त से हैमन्तिक और शिशिर से शैशिरिक छात्र कहलाते थे। इस सूची में ग्रीष्म का नाम नहीं है। संभवतः आजकल की तरह उस समय में ग्रीष्म या जेठ अषाढ़ के तपते महीनों में पढ़ाई बन्द रहती थी।

अल्प काल के लिए शिक्षण संस्थाओं में प्रविष्ट होकर किसी ग्रन्थ विशेष का अध्ययन करने की भी प्रथा थी। जो विद्यार्थी जितने समय के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट होकर ब्रह्मचर्य व्रत का नियम ले उससे उसका नाम पड़ जाता था।

उपनिषदों में इसका उल्लेख आता है कि केवल एक प्रश्न पूछने के लिए भी कोई जिज्ञासु आचार्य या तत्वज्ञानी के पास जाकर ब्रह्मचर्य से रहता था।

आरुणि ने अपने पुत्र श्वेत केतु से कहा "वस ब्रह्मचर्यम्" वह बारह वर्ष आचार्य के यहाँ जाकर रहा। प्राचीन काल में औपमन्यव आदि पाँच मित्र केवल वैश्वानर विद्या सीखने के लिए अश्वपति के पास गये और पूर्वाहृण में समित्पाणि होकर उसके सामने पहुँचे। समित्पाणी होना ब्रह्मचर्य के औपचारिक नियम का सूचक था। सत्यकाम जावाल ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा-

"ब्रह्मचर्य भगवति वत्स्यामि।"

अध्यापन-

चरण के अर्न्तगत नियम पूर्वक अध्यापन उपयोग और अध्यापन कराने वाला आख्याता कहलाता था। जो विषय धार्मिक अध्ययन के क्षेत्र से बाहर नए शुरु हो रहे थे उन्हें स्वभावतः वह सम्मान प्राप्त न था जो चरणों में अनुशीलित विषयों को था। स्वाध्याय सम्बन्ध विषयो (ग्रन्थों) का अध्यापन कराने वाला प्रवचनीया कहलाता था। जिन अध्यापन कराने वालों को प्रवक्ता कहा गया है वे ही वैदिक ग्रन्थों का प्रवचन करते थे।

माणवक का पिता या अभिभावक गुरु के पास आकर सत्कार पूर्वक निवेदन करता था-

"मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस माणवक को उपनीत करें।" जितने काल के लिए यह प्रार्थना की गई हो उसे व्यक्त करने के लिए भी भाषा में प्रयोग चलता था। जैसे एक मास तक अध्यापन के लिए जिससे अनुरोध किया गया हो वह मासिक अध्यापक कहा जाता था।

विद्यार्थी के छात्र जीवन में नियम और व्यवस्था का मुख्य स्थान था। अध्ययन की कठिनाई प्रकट करने वाले शब्द भी मिलते हैं। जैसे- कष्टोऽग्निः कष्टं व्याकरणम्, ततोऽपि कष्टतराणि सामानि।

{शतपथ काण्ड- 6-9}

अर्थात् अग्नि ग्रन्थ का अध्ययन कठिन है, ऐसे ही व्याकरण भी कठिन है। इन दोनो से कठिन सामगान का सीखना है।

पारायण-

वैदिक शाखा ग्रन्थ या छन्दों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। कण्ठाग्र करने वाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे। संहिता पाठ (निर्भुज) पदपाठ (प्रहण्ण) क्रम पाठ आदि कई प्रकार से वैदिक मंत्रों का सस्वर पाठ करना वैदिक पारायण कहलाता था। नियमानुसार पारायण करने वाला पारायणिक होता था। श्रावणी या भाद्र पद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद साढ़े चार महीने तक वेद का पारायण किया जाता था। उस समय कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक था। बोधायन एवं अन्य गृह सूत्रों में वर्णित नियत कर्म विधि के साथ पारायण का आरम्भ किया जाता था। व्रत के समय ब्रह्मचारी आहार में ही संयम करता था, कभी केवल दुग्ध की पीकर रह जाता था। तब उसके लिए "पयो व्रतयति" कहा जाता था। महीदास ने लिखा है कि- "एक से अधिक पारायण करने की प्रथा थी, जो जीवन में दो पारायण कर लेते थे। छात्रावस्था के बाद भी कभी कोई पारायण कर सकता था।

छन्दों को कण्ठस्थ करना उस समय की शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अंग बन गया था। पतञ्जलि ने लिखा है कि पढ़ाई का आरम्भ ही वेद कण्ठस्थ करने से होता था। उसके बाद किसी का मन हुआ तो व्याकरण पढ़ता था। कण्ठ करते समय छात्र स्वयं बहुत परिश्रम करते थे। अच्छी स्मृति वाले छात्रों को अधिक परिश्रम के बिना ग्रन्थ कण्ठस्थ होता जाता था। अध्ययन या पारायण सुनाते समय परीक्षा काल में जिससे जितनी अशुद्धिया हो उनकी गिनती सूचित करने वाले प्रयोग भी चलते थे।

ज्ञान पूर्वक अध्ययन-

उपर्युक्त विधि से अध्ययन करना या कण्ठस्थ करना शिक्षण विधि का केवल एक अंग था। उसके तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नों का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदों को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से संतुष्ट होने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पतञ्जलि ने भी आगे चलकर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुए इसमें अरुचि प्रकट की है। बिना समझे बूझे कण्ठ फाड़कर घोखना ऐसा है जैसे अग्नि के बिना सूखे कंडो का ढेर हो।

> "यद्धीतम विज्ञातं निगदेनैव शब्यते।
> अनग्निाविव शुष्कैधो न तज्जवलति कर्हिचित्।।"
> {पस्पशाहिनक}

ज्ञान के साधन के विशेष प्रकार-

शिक्षण और ज्ञान साधन के क्षेत्र में प्रयुक्त कई महत्व पूर्ण शब्दों का उल्लेख शतपथ में है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके समय में कितने प्रकार से शास्त्रों की ऊहापोह और प्रचार का वास्तविक प्रयत्न किया जा रहा था। गुरुओं से शिष्यों को प्राप्त होती हुई विद्या निरन्तर प्रथित होती या फैलती थी, उसे तायन कहते थे। शास्त्रों के विस्तार का यही सर्वोत्तम प्रकार इस देश में सदा से रहा है कि उस शास्त्र को गुरु-शिष्य पारम्पर्य में डाल दिया जाय। फिर ऐसा होता ही रहेगा कि मेधावी शिष्य पूर्व प्राप्त अपनी प्रतिभा से ज्ञान का अभूतपूर्व विस्तार करेंगें।

जिस समय आचार्य अपने बुद्धिशाली शिष्य के मन में किसी शास्त्र की बीज वपन कर देता है, आचार्य का काम समाप्त हो जाता है ओर उस शास्त्र के भावी कल्याण के लिए वह अपने कर्तव्य से उऋण हो जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि चरणों के संस्थापक आचार्य स्वयं अपने कार्य से ऐसे यशस्वीन बन पाते जैसे वे अपने शिष्यों के ग्रन्थों मे कीर्तिमान हो जाते थे।

चरण, वैदिक विद्यापीठ-

चरण उस प्रकार की शिक्षा संस्था थी जिसमें वेद की एक संस्था का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था, और जिसका नाम मूल संस्थापक के नाम से पड़ता था। इसका प्रबन्ध सघ के आदर्श पर होता था। वैदिक साहित्य के विविध अंगो का विकास चरणों में हुआ था। जैसे मूल संस्थापक ऋषि द्वारा प्रोक्त छन्द या शाखा मन्त्रों की अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत और अधियज्ञ परक व्याख्या करने वाला ब्राह्मण ग्रन्थ एवं श्रौत सूत्र आदि कल्प ग्रन्थ थे।

वस्तुतः वैदिक शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का चरणों के साथ ऐसा तादाम्य सम्बन्ध माना जाता था कि इन दोनों प्रकार के साहित्य का नाम करण चरणों में उसका अध्ययन-अध्यापन करने वाले विद्वान गुरु शिष्यों के नाम पर ही प्रसिद्ध होता था। जब धर्म सूत्रों का अध्ययन चरणों में हुआ, उसी युग में कितने ही नए विषयों का अध्ययन चरणों के बाहर भी होने लगा था, जिनकी शिक्षा विधि के नियम चरणों की अपेक्षा सम्भवतः सरल थे। एक बार जब गुरु शास्त्रज्ञ लोगों के स्वतन्त्र रीति से अध्यापन कराने की प्रथा शुरु हुई तो फिर चरणों की वह बँधी हुई प्रतिष्ठा छिनती ही चली गयी। नये शास्त्रों कर रचना सबके वश की बात न थी। अतएव जहाँ भी चाहे उनका निर्माण हुआ हो सब चरणों को उन्हें अपने पाठ्यक्रम में स्वीकार कर लेना पड़ता था।

दुर्गाचार्य ने लिखा है कि पार्षद ग्रन्थों ये तात्पर्य प्रातिशाख्यों का है जो चरणों की परिषदों में बनाये गये थे। पतञ्जलि ने सामवेद की सात्यमुग्रि और राजायनीय शाखाओं के अर्ध एकार, अर्ध ओकार सम्वन्धी नियम को पार्षदकृति अर्थात चरण परिषत द्वारा निर्णीत नियम कहा है। परिषद या मन्त्रिपरिषद् में जो साधु हो अर्थात् उसमें सम्मिलित होने का अधिकारी हो वह पारिषद्य या पारिषद कहलाता था। वह निश्चित है कि परिषद चरण के अर्न्तगत् एक अति प्राचीन संस्था थी जो वहाँ की विद्या सम्बन्धी व्यवस्था करती थी औश्र जिसके अध्यक्ष आचार्य स्वयं होते थे।

द्वितीय परिच्छेद

विद्या

समाज में शिक्षा का क्रम किस रुप में ढ़ाला जाय यह बात प्रत्येक युग में स्वीकृत शिक्षा के आदर्श पर निर्भर करती है। आचार्य और अन्तेवासी अर्थात् पढ़ाने वाले और पढ़ने वाले दोनों ही उस आदर्श से प्रेरित होते हैं। आकाश में स्थित विष्णु पद नक्षत्र के समान उस ऊँचे आदर्श की ओर सब की ऑखे लगी रहती है। इसी प्रेरणात्मक शक्ति से ही विद्या का मान दण्ड ऊँचा उठा रहता है। महाजन युग में शिल्प-कौशल और शास्त्रीय शिक्षा इन दोनों के विषय में यास्क ने अपने समय की भावनाओं के प्रकट करते हुए लिखा है-

"जनपदीषु विद्यात् पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भयो विद्यः प्रशस्यो भवति।"

यहाँ दो प्रकार की शिक्षा पद्धति का उल्लेख है। एक तो पेशेवर लोगों की शिल्प शिक्षा का जिसे जानपदी कहा जाता था और दूसरा चरणों के परम्परा प्राप्त साहित्य की शिक्षा का। जनपदों में फेले हुए जो सैकड़ों के प्रकार के शिल्प थे, उनमें कुशलता प्राप्त करने वाले पुरुष विशेष समझे जाते थे। अर्थात् पेशेवरों की विरादरी में सम्मान पाते थे। कोई वास्तु विद्या का श्रेष्ठ आचार्य होता, कोई धनुर्विद्या का, कोई नृत्य और संगीत का। इनके उल्लेख बहुधा जातकों में मिलते हैं।

इसी प्रकार चरण नामक शिक्षा संस्था में जो बौद्धिक शिक्षा या ज्ञान की साधना की जाती थी, उस क्षेत्र में भी जो व्यक्ति जितना ऊँचा उठता, वह उतना अधिक सम्मान पाता था। पीढ़ी दर पीढ़ी गुरु-शिष्य परम्परा के जो ज्ञान पर औश्र अवर अर्थात् पुराने और नये साहित्य के रूप में संग्रहीत हो जाता था, उसे की यास्क ने पारोवर्य कहा है। इस पारोवर्य ज्ञान का उपार्जन करने वाले चरणों के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान होते थे। उनमें भी अध्येतृ वर्ग का अर्न्तभाव आगे चलकर वेदृित विद्वानों में ही हो जाता था। ऐसे विद्वानों में जो भूयोविद्य होते थे वही प्रशस्य या श्रेष्ठ सम्मान के अधिकारी समझे जाते थे।

भूयोविद्य एक विशिष्ट शब्द है, इसका संकेत उन विद्वानों की ओर है जो चरण साहित्य के अनेक अंगों में पारगामी होते थे। इस साहित्य का अपरिमित विस्तार शतपथ काल में हुआ। भूयोविद्य का आदर्श उस बहुश्रुत विद्वान में चरितार्थ होता था जो इस वाङ्मय की अधिक से अधिक विद्याओं में योग्यता प्राप्त करता था। वेद के सरहस्य ज्ञान के लिए आचार्य छन्दों के अध्ययन या कण्ठस्थ करने के लिए श्रोत्रिय, प्रोक्त साहित्य का प्रवचन

करने के लिए या पढ़ाने के लिए प्रवक्ता, धार्मिक साहित्य के लिए आख्याता, वेदांगों के लिए अनूचान और साधारण लौकिक ग्रन्थों को पढ़ाने के लिए अध्यापक होते थे।

एक-एक विषय में प्रवीण विशेषज्ञ विद्वानों की बाढ़ अपने-अपने विशेषज्ञ के रूप में समाज मे प्रतिष्ठित होता था। इस प्रकार के तद्वेद विद्वानों को यास्क ने वेदितृ कहा है। एक-एक विषय के अनेक विद्वानों में जो कोई बहुत सी विधाओं या विषयों का विद्वान होता था, वही भूयोविद्य इस सम्मानित पद का अधिकारी समझा जाता था। भूयोविद्य से ही उच्चतर कोटि में सर्वविद्य ब्रह्म की उपाधि थी।

"ब्रह्ना सर्वविद्यः सर्ववेदितुमर्हति।"
{निरुक्त- 1/1/3}

यास्क ने लिखा है के पार्षद ग्रन्थ या प्रतिशख्यों के उहापोह का मूल आधार पद पाठ था-

"पद प्रकृतीनि सर्व्चरणानां पार्षदानि।"
{निरुक्त- 1/18}

अतएव पद पाठ का विशेष अध्ययन करने वालों की आवश्यकता थी। ब्राह्मण और अनुब्राह्मण ग्रन्थों के विशेषज्ञ भी थे। वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में नई प्रवृत्ति विशेषज्ञों का निर्माण था। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि बहुआ लोग एक-एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे। इसलिए भी भूयोविद्य व्यक्ति विशेष प्रशंसनीय समझा जाने लगा। इस प्रकार के बहुश्रुत विद्वान चरणों के प्राचीन आदर्श के मूर्त रूप थे।

पतञ्जलि ने अंग विद्या के जानने वालों के लिए अंग विद्या, वायस विद्या या पक्षिशास्त्र के जानकर लोगों को वायस विद्यिक या वायोविद्यिक, गाय और घोड़ों के लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन करने वालों को गौलक्षणिक, आश्वलक्षणिक, क्षत्रविद्या के विद्वानों को क्षात्रविद्य कहा जाता है। और अभी कई प्रकार का साहित्य शतपथ के समय वन चुका था, यहाँ तक कि एक-एक कथा ग्रन्थ या कहानी के विशेषज्ञ उस नाम से पुकारे जाने लगे थे। उदाहरण के लिए यवक्रीत का आख्यान जानने वाले याव्रक्रीतिक, ययाति के उपाख्यान के विशेषज्ञ यायातिक, वासवदस्ता की कहानी जानने या कहने वाले वासवदन्तिक नाम से लोक में प्रसिद्ध हो जाते थे। शौरि बसुदेव की पत्नी प्रियंगु सुंदरी की कथा के विशेषज्ञ प्रैयंगविक थे। यहाँ तक कि सुमनोत्तरा नाम की विशेष कहानी जिसका बौद्ध साहित्य में उल्लेख है, जानने और कहने वाले शौमनोत्तरिक कहे जाते थे।

इन शब्दों की भाषा में क्यों आवश्यकता हुई इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि शतपथ काल से लेकर पतञ्जलि के पुत्र तक सब प्रकार की विद्याओं की शिक्षा

का इतना अधिक विस्तार हुआ था, और एक-एक विषय और ग्रन्थ और ग्रन्थ में जनना की रूचि इतनी अधिक जाग्रित हो गई थी कि समाज में ऐसे विद्वानों की आवश्यकता प्राय: पड़ती थी।

यह ऐसे हुआ जैसे अब से सौ वर्ष पूर्व अल्हा गाने वाले अल्हैत या लोरिकायन गाने वालों की विशेष मांग देहातों में रहती थी। न केवल खेल तमाशे बल्कि नाटक और कहानियों में भी लोगो की जो बढ़ी हुई रूचि थी उस पर जातकों के माध्यम से प्रकाश पड़ता है।

माणव, अन्तेवासी और चरक इन तीन प्रकार के विद्यार्थी होते थे। माणव के लिए हितकारी इस अर्थ में माणवीन और चरक के लिए हितकारी इस अर्थ में चारकीण शब्द प्रयुक्त होते थे। वैशम्पायन का नाम भी चरक पड़ गया था। सम्भवतः एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान का प्रचार करने के कारण उनकी यह संज्ञा हुई। अवश्य की वैशम्पायन के बहुत से अन्तेवासी शिष्य थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों में फेलकर स्वयं अपनी शाखाओं का विकास किया और नये चरणों की स्थापना की। उनके नौ प्रमुख शिष्य प्रत्यक्षकारी अर्थात् स्वयं शाखाओं प्रर्वतन करने वाले थे।

"आलम्बि, पलंग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्डि, श्यामायन, कठ, कलापी। आदि वैशम्पायन के शिष्य भी चरक कहलाते थे।"

आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त कर लेने पर भी जो उच्चतर ज्ञान की खोज में निकलते थे, ऐसे उत्तम विद्वानों के लिए यह चरक नाम उस समय था।

जातकों में तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए "चारिकं चरन्ता" कहा गया है, जो अध्ययन समाप्त करके स्वयं देशाचर का परिज्ञान करने के लिए यात्रा करते थे। वृहदारण्यक उपनिषत् में भुज्यु लाह्यायनि में याज्ञवल्क्य से कहा कि वह मद्र देश में अपने साथियों के साथ चरक बन कर विचर रहा था।

"मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम"
{वृ0उप0- 3/3/1}

ग्रन्थ निर्माण-

अपने-अपने विषयों के विद्वान् नूतन ग्रन्थ रचना द्वारा अपनी विद्या को सफल बनाते थे। विभिन्न विषयों पर लिखे जाने वाले अथवा विशेष विद्वानों द्वारा अपने-अपने प्रयत्न से निर्मित ग्रन्थों का भी शतपथ में उल्लेख किया गया है।

(1) मन्त्रकार
(2) पदकार
(3) सूत्रकार
(4) गाथाकार
(5) श्लोककार।

आदि इतने प्रकार के रचयिताओं का नामोल्लेख किया गया है। जो इन शब्दों में उन विभिन्न साहित्य रूप और शैलियों के नाम हैं, जो उस समय तक प्रचलित हो चुकी थीं।

आपिशलि, यास्क, शाकटायन और पाणिनि जैसे दिग्गज विद्वान अपने मौलिक चिन्तन और महान् प्रयत्न से नए-नए शास्त्रों की उद्भावना कर रहे थे और उन विषयों को नियम बद्ध करके शास्त्रों का रूप दे रहे थे। यही उस युग की सबसे बड़ी विशिष्ट साहित्यिक सम्पत्ति थी। ग्रन्थकर्ता ग्रन्थ निर्माण में जिस लगन से काम करते थे इसका कुछ संकेत भासन, ज्ञान, यत्न, वृन्ति, तायन, सम्मानन आदि शब्दों में पाया जाता है।

एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार से आशु कविता थी, जैसे "गाथाः प्रकुरुते" से ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल ही छनदोबद्ध कविता करने की आशा की जाती थी। पारिप्लव आख्यान में कहा गया है कि वीणागाथी अथवा वीणागणगिन् अपनी बनाई गई गाथाओं को वीणा पर गाता था।

"स्वयं संभृता गाथा गायति।"
{शतपथ ब्रा0- 13/4/3/5}

ग्रन्थों का नामकरण-

ग्रन्थों के नामकरण के दो हेतु आचार्यों ने कहा है। एक तो लेखक के नाम से जैसे वररुचि के बनाए गये श्लोक वाररुचाः श्लोकाः। दूसरा जिस विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ में होता था उसके नाम से भी ग्रन्थ का नाम रखा जाता था। जैसे- सौभद्र, सुभद्रा के आख्यान का गन्थ, यायात- ययाति के आख्यान का ग्रन्थ, गौरी मित्र- कोई अज्ञात कथा ग्रन्थ।

व्याख्यान-

शतपथ काल में व्याख्यान ग्रन्थों का निर्माण भी होने लगा था। उसका नाम मूल व्याख्यातव्य विषय के नाम से रखा जाता था। जैसे-

"सुपां व्याख्यानः सौपः ग्रन्थः।"

अर्थात् सुबन्त शब्दों की व्याख्या करने वाला सौप ग्रन्थ। ऐसे ही तैंग अर्थात् तिङ्0त्त शब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ। कार्त अर्थात् कृदन्त शब्दों पर व्याख्यान ग्रन्थ, पात्वणत्विक अर्थात् षत्वणत्व या मूर्धन्य प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ, नातानतिक नत-अनत या अनुदत्त-उदात्त स्वरों का व्याख्यान ग्रन्थ। इसी प्रकार वैदिक काल मे अनेक विषयों के व्याख्यान ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। जैसे-

अग्निष्टोमिक - आग्निष्टोम संज्ञक सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ।
वाजपेयिक - वाजपेय नामक क्रतु का व्याख्यान ग्रन्थ।
राजसूयिक - राजसूय क्रतु का व्याख्यान ग्रन्थ।
यज्ञ - गृह्य अग्नि में होने वाले छोटे यज्ञों या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ।
पञ्चहोतृक - पञ्चहोतृसंज्ञक यज्ञ विधि का व्याख्यान ग्रन्थ जिसमें पॉच देवों का आवाहन किया जाता है।
ब्राह्मणिक - ब्राह्मण ग्रन्थ या उसके एक अंश या प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ।
आर्चिक - ऋचाओं का व्याख्यान ग्रन्थ।
प्राथमिक - सम्भवतः प्रधानोपसर्जन विषय का व्याख्यान गन्थ।
आध्वरिक - अध्वर या सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ।
पौरश्चरणिक - पुरश्चरण या यज्ञ के लिए पूर्व तैयारी का व्याख्यान ग्रन्थ, जिसका शतपथ में उल्लेख है।
नामिक - नाम या संज्ञा शब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ।
आख्यातिक - क्रिया रूपों का व्याख्यान ग्रन्थ।

नामकरण का नियम 30 और 40 अध्यायों वाले दो ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लागू होता था। तीस अध्याय वाला त्रैश ब्राह्मण कौषतकी और चालीस अध्याय वाला चत्वरिंश ब्राह्मण ऐतरेय था। शतपथ के विषय में हमें विदित है कि अध्यायों की संज्ञा का उसके विकास में महत्वपूर्ण स्थान था। इष्टि पशुबन्ध और अग्नि चयन अर्थात् हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ का व्याख्यान करने वाले पहले 9 काण्डों में 60 अध्याय होने से वह षष्टि पथ कहलाता था। पीछे 10वें से 14 वें काण्ड तक के 40 अध्याय और जोड़कर उसका शतपथ नाम हुआ।

तन्त्र युक्ति-

किसी भी रचना के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले उसकी रूपरेखा निश्चित कर ली जाय। इसे तन्त्र युक्ति कहते हैं। कौटिल्य में 32 तन्त्र युक्तियों के नाम हैं। चरक सुश्रुत में भी यह प्रकरण है। चरक में तीन नाम अधिक हैं। मीमांसको ने ग्रन्थ रचना की युक्तियों के विषय में सूक्ष्म विचार किया था। उनकी दृष्टि में संगति ग्रन्थ का सबसे बड़ा गुण है, जिसमें कि सारे ग्रन्थ की संगति के साथ प्रत्येक अध्याय, पाद, सूत्र, वाक्य और

शब्द की भी संगति मिलनी चाहिए। वे मंगल भी मानते हैं। जिस विषय का ग्रन्थ हो उसी मर्यादा के भीतर उसके प्रत्येक भाग का संगत निरूपण होना चाहिए। सैकड़ों अधिकार और प्रकरण परस्पर संगत होते हुए सुव्यवस्थित है। विश्लेषण की कितनी सूक्ष्म शक्ति विषय का कितना अपरिमित विस्तार, कितनी अधिक दृष्टियों से भाषा की छानबीन ये सब शतपथ कालीन शिक्षा के महान् और सुविहित होने का प्रमाण देते हैं। उच्चारण के अनेक नियम, शब्दों के अर्थ और वृत्तियों और आख्याता के अनेक रूपों की साधनिका, स्वर, गणपाठ, प्रत्याहार अधिकार, स्वरित, अनुनासिक कितनी ही युक्तियों से शब्दों के अनन्त भण्डार शतपथ कालीन शिक्षा का महान् व्यवस्था का परिणाम है।

मंगल ग्रन्थ के आरम्भ में किसी देवता की नमस्क्रिया या स्तुति अथवा आशीर्वादात्मक किसी शब्द का प्रयोग मंगल था। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए दैवी सहायता या देव् प्रसाद की प्राप्ति, यही उसका उद्देश्य था। भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि मांगलिक शास्त्र के पढ़ने और पढ़ाने वाले सब प्रकार के वृद्धियुक्त और दीर्घजीवी हों।

"मांगलिक आचार्यों महतः शास्त्रौघस्य मंगलार्थ वृद्धि शब्द मादतिः प्रयुक्ते, मंगलादीनिहि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्तयायुष्मत् पुरुष्काणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति।"

पतञ्जलि और कात्यायन ने अपने शास्त्र के अन्त में मंगलात्मक वाक्य रखा है। भाष्यकार वार्तिककार के भी मांगलिक आचार्य मानते हैं क्योंकि उन्होंने अपने वार्तिक के आरम्भ में इन मांगलिक शब्दों का प्रयोग किया है।

चरणों के अर्न्तगत परिषदों में स्वाध्याय के आरम्भ ओम् शब्द का उच्चारण करने की प्रथा थी।

लिपि–

शतपथ काल लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश में था या नहीं इस विवादित विषय में पश्चिमी विद्वानों ने भी गोल्डस्टूकर का मत है कि उस काल में वैदिक साहित्य लिखित ग्रन्थों के रूप में आ चुका था यद्यपि उसे कण्ठस्थ करने वाले श्रोत्रिय विद्वान सहस्रों की संख्या में विद्यमान थे, जैसे कि कुछ तो आज भी हैं। एस समय की शिक्षा पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी। लिखित ग्रन्थों का अधिक चलन न था, पर यह कहना तथ्यहीन है कि लिपि का ज्ञान ही लोगों को न था। ग्रन्थ, लिपिकर, षवनानी, लिपि और गौओं के कानों पर संख्यावाची चिन्ह अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। ये सब लिपि ज्ञान के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण हैं।

लिपिकर-

मौर्य युग में लिपि शब्द लेखन के लिए प्रयुक्त होता था। तृतीय शती ईस्वी पूर्व में अशोक के अपने स्तम्भ लेख और शिला लेखों को धम्म लिपि या ध्रम दिपि कहा है। लघु शिला लेख संख्या दो में लेख खोदने वाले को लिपिकार कहा गया है। कौटिल्य में भी लिपि शब्द आया है। वहाँ सांकेतिक लिपि को संज्ञा लिपि कहा है। ईरानी सम्राट दारा प्रथम ने बहिस्तून अभिलेख में उत्कीर्ण लेखन को दिपि कहा है। अतएव यह निःसंदेह है कि शतपथ काल के समय में लिपि का अर्थ लेखन क्रिया और लेखन चिन्ह थे।

यवनानी-

यवनानी शब्द का अर्थ यवनों की लिपि ऐसा समझा जाता था।

"यवनाल् लिप्याम्।"

कात्यायन के केवल उस शब्द का विवरण दिया है।

कीथ ने लिखा है कि यवनानी लिपि से तात्पर्य सम्भवतः आईओनिया देश के यूनानियों की लिपि से ही था।

गोल्डस्टूकर और स्पूनर ने यवनानी लिपि का अभिप्राय प्राचीन ईरान देश की कीलकाक्षर लिपि माना था, किन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यवन शब्द से ईरानियों की कभी कोई ग्रहण होता था। दारा प्रथम - ई0पू0 581-485 ने अपने प्राचीन अभिलेखों में योन देश और वहाँ के निवासी योनों का उल्लेख किया है। ये नाम ईरान या ईरानियों के लिए अप्रयुक्त थे।

अशोक ने भी अपने लेखों में यवन या यूनानियों के लिए योन शब्द का प्रयोग किया है, ईरानियों के लिए नहीं। यह भी प्रमाणाभाव से नहीं माना जा सकता कि प्राचीन ईरानी साम्राज्य की जो राजकीय लिपि थी उसी को यवनानी कहा गया है। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि चौथी शती ईस्वी पूर्व में जब सिकन्दर भारत आया, उससे लगभग डेढ़-दो सौ वर्ष पहले ही भारतवासी यूनानियों के सम्पर्क में आ चुके थे। यूनानी इतिहास लेखक "हेरोदोत" ने लिखा है कि भारतीय सैनिकों की एक टुकड़ी ख्षयार्थ के ईरानी कटक दल के साथ यूनान के युद्ध में सम्मिलित हुई थी, और सिकन्दर से पहले ही यूनान देश के लागों ने बाह्लीक में अपने उपनिवेश बना लिये थे।

तृतीय परिच्छेद

साहित्य

साहित्य रचना के लिए जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसका संकेत समकालीन साहित्य के वर्गीकरण के समय शतपथ काल में किया गया था।

दृष्ट-

ऋषियों ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था उसे इसे वर्ग में रखा जा सकता है। सामवेद के गान का भी उल्लेख उस काल में किया गया है।

प्रोक्त-

वह साहित्य जिसके निर्माण में वैदिक-चरणों के संस्थापक ऋषियों ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदों की पृथक-पृथक शाखाएँ थीं। जैसे- तैत्तिरीय शाखा, कठों की शाखा, कलापों की शाखा एवं और भी ब्राह्मण ग्रन्थ जिनका चरणों में विकास हुआ।

प्रोक्त ग्रन्थ का सम्बन्ध चरणों के अन्तर्गत उनके पढ़ने-पढ़ाने वालों से था। यह सम्बन्ण मूल छन्द या शाखा ग्रन्थों से ही प्रारम्भ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास से साथ उसमें भी तद्विषया का नियम लागू हुआ। जैसे- तैत्तिरीय चरण के अन्तर्गत मूल तैत्तिरीय शाखा और तैत्तिरीय ब्राह्मण का नाम अपने चरण के नाम से पड़ा। कालक्रम की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद भी बने थे। साहित्य रचना की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद ब्राह्मण साहित्य के ही अंतरंग भाग थे। इसलिए उनके नामकरण की पृथक समस्या का अनुभव नहीं हुआ।

ऋषि कश्यप और कौशिक द्वारा स्थापित चरण काश्यपिनः और कौशिकनः कहलाते थे, एवं ये चरण कल्प सूत्रों तक सीमित थे। अर्थात् इन ऋषियों ने किसी शाखा या ब्राह्मण का प्रवचन न करके कल्पसूत्र का ही प्रवचन किया था। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है कि तद्विषया का नियम केवल छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थों में लागू था, वही भिक्षुसूत्र और नटसूत्र जैसे लौकिक ग्रन्थों मे भी लागू हुआ।

पतञ्जलि ने लिखा है - "पराशरिणो। भिक्षवः शैलालिनो नटाः" यहाँ सब टीकाकार सहमत हैं कि पाराशरिणः और शैलालिनः ये दो चरणों के नाम थे, अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा के द्योतक थे, जिनका संगठन ठीक वैदिक चरण संस्थाओं के आदर्श पर हुआ था। इनमें भी अन्य चरणों की भाँति अध्येतृ-वेदितृ परक अर्थ का बोध होता था।

पाराशर्य और शैलालक चरणों का मूल में सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ था, अर्थात् उनमें ऋग्वेद की शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन होता था। ये दोनों ही विषय महत्वपूर्ण और लौकिक थे। इन नये विषयों को उन दोनों चरणों के आचार्यों ने इतने उत्साह से ग्रहण किया उनसे सम्बन्धित वैदिक ग्रन्थों का नाम लुप्त हो गया।

उनकी कीर्ति केवल इन नये विषयों के कारण लोक में प्रथित हुई। अथवा यह भी संभव है कि इन बैदिक ग्रन्थों में ठीक वही मौलिकता न रही हो और किसी अन्य वैदिक चरण की शाखा को ही आचार्य पढ़ते-पढ़ाते रहे हों। किन्तु जिस विषय में आचार्य शिलानी ने स्वतन्त्र अन्वेषण किया और अपनी प्रतिभा से नये विषय का प्रवचन किया। यह भी समझा जाता है कि ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य के समीप में ज्ञान सीखने वाले जिज्ञासु शिष्य वैदिक ग्रन्थ पढ़ने न आए होंगें, बल्कि आचार्य द्वारा उपज्ञात नाट्य शास्त्र या नटसूत्रों के अध्ययन के लिए उपस्थित हुए होंगें।

यह वैदिक चरणों की उदारता थी कि उन्होंने समयानुसार नए विषयों के स्वागत के लिए अपना द्वार उन्मुक्त किया और अपनी चिर-उपार्जित प्रतिष्ठा से उन्हें सम्मानित किया। भाष्य में ठीक ही लिखा है कि ज्ञान के इस नए क्षेत्र में भी तद्विषयता का नियम लागू किया गया।

उपज्ञात-

इस कोटि में उस साहित्य का परिगणन था जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली बार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे। प्रोक्त साहित्य के ही अर्न्तगत उपज्ञात संज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे, उपज्ञात नहीं क्योंकि प्रवचन कर्ता ऋषियों ने कुछ नई मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थों का आविर्भाव नहीं किया था। जो मूल संहिताएं थी, उन्हीं में फेर बदल करके उन्होंने शिष्यों को उनका अध्यापन कराया था। इसीलिए एक ही वेद की कई शाखाएँ परस्पर बहुत मिलती हैं।

नए-नए विषय और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरणों के बाहर अस्तित्व में आ गये थे, जिनकी रचना में उनके लेखकों ने महान प्रयत्न किया था। उनके कर्तव्य का भी लोगो को तथ्यात्मक परिचय था। अतएव यह संभव नहीं था कि उनका नामकरण उनके प्रवक्ता या उपज्ञाता अर्थात् मौलिक रचयिताओं के नाम से न हो। इस प्रकार यद्यपि ग्रन्थ और गुरु-शिष्य पारम्पर्य के नाम में कोई भेद न था, किन्तु शिक्षण संस्थान की दृष्टि से शतपथ कालीन ग्रन्थों में और चरण साहित्य के ग्रन्थों में बहुत अन्तर था। शाखा पर आधारित चरणों का जो नियमित संगठन था वह नए शास्त्रों को प्राप्त न था। पतञ्जलि ने तो स्पष्ट लिखा है कि उनका सम्बन्ध सभी चरणों में सम्मान था।

"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।"

ग्रन्थ की रचना में विशेष प्रयत्न और पारिष्कार शतपथ काल में किया गया जिसके कारण ग्रन्थों का स्वरूप इतना सुथरा और सुविभक्त होता था। उसी पृष्ठि भूमि मे संख्या शब्दों को ग्रन्थों के नामकरण में इतना महत्व प्राप्त हुआ। अध्याय, पाद के सांचे मे ग्रन्थ को ढ़ालने अथवा कुशल तक्षक की भाँति अपरनी सामग्री को गढ़ छिल कर उस रुप में ले आने में ग्रन्थकर्ता जो महान प्रयत्न करते थे, उसका गौरव संख्या शब्दों को प्राप्त हुआ, तभी भाषा में इस प्रकार के नामों की आकांक्षा हुई

ग्रन्थ के आन्तरिक शिल्प या वास्तु विधान को ऐसा महत्व किसी अन्य युग में प्राप्त नहीं हुआ, जितना शतपथ काल में प्राप्त हुआ था। ब्राह्मण युग के अन्त में ही अध्यायों के सम्बन्ध की रचना की संख्याओं के महत्व की यह व्यंजना शुरु हो गई थी। तभी तो 60 अध्यायों वाले ग्रन्थ के लिए षष्ठिपथ और 100 अध्यायों वाले ग्रन्थ के लिए शतपथ तथा 30 अध्यायों वाले कौषीतकी के लिए तैंश, और 40 अध्यायों वाले ऐतरेय के लिए चत्वारिंश जैसे नाम पड़ गये।

कृत-

इस श्रेणी के साहित्य में साधारण ग्रन्थों का समावेश किया गया जिनका नामकरण या तो उनके विषय से या लेखक के नाम से ज्ञात होता था। अनुष्टुप श्लोक और उसके साथ श्लोककार कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीघ्र की काव्य और नाटक रूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। उदाहरण के लिए सौभद्र - "अर्थात् सुभद्रा के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ" यायात्- ययाति के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ। वारुरुचाः श्लोकाः- वररुचि के बनाए श्लोक ये सब काशिका में उद्धृत कृत साहित्य के उदाहरण हैं।

कृत और उपज्ञात में भेद यह था कि कृत वह ग्रन्थ था जिसे किसी लेखक ने विरचित किया, किन्तु उपज्ञात ग्रन्थ विशेष न हो कर उस शास्त्रीय विषय के लिए प्रयुक्त होता था। जिसकी प्रथम उद्भावना किसी मेधावी आचार्य ने की हो।

उपज्ञात ग्रन्थ व्यक्ति विशेष से प्रोक्त और उपदिष्ट होता था, किन्तु उसका नाम उस विषय के नाम से पड़ जाता था, जिसका उपदेश या प्रवचन उसमें किया गया हो।: शास्त्रीय नाम के पहले उपज्ञाता आचार्य के नाम से बना हुआ विशेषण प्रयुक्त किया जाता था।

व्याख्यान-

शतपथ में धार्मिक और लौकिक श्रेर्णा के विषयों के फुटकर ग्रन्थों पर विरचित व्याख्यान ग्रन्थ इस श्रेणी के साहित्य में आते थे। ये कुछ मौलिक रचनाएँ न थीं, बल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनकी रचना उस समय बड़े वेग से हो रही थीं। जैसे वैदिक अध्यायों और मन्त्रों के अर्थ समझाने के लिए या उनके विभिन्न पाठों की युक्ति बताने के लिए, या यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिए या वेदांग सम्बन्धी विषयो के व्याख्यान के लिए अथवा दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, अंग विद्या, क्षत्र विद्या आदि फुटकर विद्याओं को स्पष्टता से समझाने के लिए इस साहित्य का उद्देश्य उन उदाहरणों से स्पष्ट होता है। जो इस प्रकार है जैसे- सोमक्रतुओं के व्याख्यान ग्रन्थ, पुराडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ। एक प्रकार से यह आजकल की पद्धतियों के ढंग की पुस्तकें रहीं होंगी। व्याख्यान साहित्य के निर्माण में बहुत से छोटे-छोटे लेखक भी अपनी-अपनी विद्या और बुद्धि के अनुसार भाग ले रहे थे। जैसा कि उत्पात निमित्त आदि अति सामान्य विषयों पर लिखे गये ग्रन्थों से सूचित होता है। निमित्तों का व्याख्यान ग्रन्थ नैमित्त और उन्हें बताने वाला व्यक्ति नैमित्तिक कहलाता था। उस समय नक्षत्रों के फलाफल का विचार करना, हाथो की रेखा देखना या ज्योतिष की सहायता से भविष्य कथन करना इन बातों में भी लोगों को काफी रूचि हो गयी थी, जैसा जातक कहानियों से विदित होता है।

वैदिक साहित्य-

वैदिक साहित्य के विषयों में ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काटक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद और सामवेद। इसी में ऋग्वेद के शाकल्य पद पाठ का नाम भी जोड़ लेना चाहिए। भारतीय टीकाकार भी प्रायः वैदिक प्रयोगों के लिए "प्रयोगो मृग्यः" कह कर छुट्टी ले लेते हैं। उसमें यह भी अध्ययन करना होगा कि कितनी सामग्री संहिताओं में ऐसी है जिसका संकलन शतपथ में किया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं था कि वजसनेयि संहिता और शतपथ वैदिक काल के समकालीन रचना है।

मन्त्र, छन्द आदि शब्द-

छन्द, मन्त्र, ऋच्, यजुष, ब्राह्मण और निगम इनका उल्लेख शब्द प्रयोगों के सम्बन्ध में आता है। इन शब्दों से क्या अभिप्राय था यह स्पष्ट होने की आवश्यकता है। छन्द तो भाषा का उलटा है। भाषा का प्रयोग शतपथकार ने उस समय की बोल चाल में आने वाली संस्कृत अर्थात् शिष्ट भाषा के लिए किया है। जहाँ किसी प्रयोग का साधुत्व छन्द में कहा गया है वहाँ शतपथकार का आशय संहिता साहित्य और ब्राह्मण साहित्य इन दोनों से होता था। ब्राह्मण साहित्य को छोड़कर ऋचा भाग या यजुष भाग में उस शब्द का साधुत्व होता है। ऋच् का तात्पर्य ऋग्वेद सदृश मन्त्रों से है और उसका उलटा यजुष गद्यात्मक मन्त्र भाग से। ब्राह्मण से तात्पर्य गद्यात्मक ब्राह्मण साहित्य से है।

वैदिक शाखा-

चरणों का विकास मूलतः वैदिक शाखाओं के आधार पर हुआ। इन्हे छन्द और आम्नाथ भी कहते थे। छन्द और ब्राह्मण के चरणों के प्रधान अध्ययन के विषय थे।

ऋग्वेद-

ऋग्वेद में अनेक चरणों का उल्लेख किया गया है। शाकल्य आचार्य ने ऋग्वेद का पदपाठ बनाया था। शाकल प्रोक्त शाखा का अध्ययन करने वाले विद्वानों को कहते हैं। इसे शाकल चरण भी कहते थे।

"प्रोक्तमधीयते शाकलाः।"

ऋक्संहिता का वर्तमान संस्करण शाकल शाखा है। वस्तुतः शाकलों के अर्न्तगत एक शैशिरीय चरण था। उसी का यह शाखा ग्रन्थ है। ऋक् प्रातिशाख्य के आरम्भिक श्लोकों में शैशिरीय शाखा के साथ उसका सम्बन्ध कहा गया है।

बाष्कल चरंण ब्यूह के अनुसार यह ऋग्वेद का महत्वपूर्ण चरण था। बाष्कलों का उल्लेख साक्षात् रूप से नहीं किया गया है किन्तु चरण के प्रमुख शिष्य पराशर का उल्लेख किया है, जिसने पराशर शाखा का आरम्भ किया।

शिलालिन् मूलतः शैलालक ऋग्वेद का चरण था, जिन्होंने एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास किया था। आप स्तम्ब और श्रौत सूत्र में शैलालिक ब्राह्मण का उल्लेख है। बह्वृच अर्थात् शाखा और धर्मसूत्र को बह्वृच कहा गया है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में इसी चरण को सर्वोपरि प्रधानता प्राप्त हुई थी। शतपथ ब्राह्मण 10/5/1/10 में बह्वृचों का उल्लेख है।

अवश्य ही आपस्तम्व के सामने बह्वृचों का कोई ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ था जो अब अप्राप्त है। इस चरण की संहिता और ब्राह्मण दोनों सुरक्षित नहीं रहे।

यजुर्वेद-

कृष्ण यजुर्वेद के की अनेक चरण संस्थापक आचार्य थे, जिनके गुरु वैसम्पायन थें। ये विद्वान वैसम्पायन के अन्तेवासी प्रसिद्ध थे। ये स्वयं प्रत्यक्षकारी हुए, अर्थात् प्रत्येक ने स्वयं एक-एक शाखा का प्रवचन किया और चरण की संस्थापना की।

"तैत्तिरीय चरण के संस्थापक आचार्य तित्तिरि थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग की संज्ञा काष्ठक भी थी जिससे ज्ञात होता है कि तैत्तिरियों और कठों का निकट का संवन्ध था।"

{पं0 भगवदत्त वैदिक वाङ्ग्मय का इतिहास}

औखीय के अनुसार तैत्तिरीय चरण के दो उपविभाग हुए औखीय और खाण्डिकीय। आत्रेय भी औखीय चरण का ही एक छोटा विभाग था।

खाण्डिकीय तैत्तिरियों के अर्न्तगत एक चरण था। इसी से आपस्तम्ब हिरण्यकेशीय और भारद्वाज चरणों का विकास हुआ।

वैसम्पायन को ही चरक कहा जाता था, जिसका मूल अर्थ ज्ञानोपार्जन के लिए विचरपा करने वाले विद्वानों से था। वैसम्पायन वैदिक आचार्यों में प्रमुख थे। शवर स्वामि ने लिखा है कि कृष्ण यजुर्वेद की समस्त शाखाओं के अध्ययन का श्रेय वैशम्पायन को था।

"स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी।"
{मीमांसा भाष्य-1/1/30}

श्यामायन काठ और कलापिन आचार्यों का चरण श्यामानिः, कठाः, कलापाः उदीच्य देश में थे।

"आलम्बिश्चरकः प्राच्यां पलंगकमलावुभौ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयस्त्रयोऽपरे।।
श्यामायन उदीच्येषु उक्तः कठकलापिनोः।
{काशिका में उद्घृत श्लोक}

शतपथ ब्राह्मण में कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी चरकाध्वर्यु कहे गये हैं।

सामवेद–

सामवेद की संहिता के दो भाग थे, अर्चिक और गेय। सामवेद के छान्दोग्यचरण का भी उल्लेख किया गया है। कालान्तर में सामवेद का मुख्य चरण हो गया। जिसमें कार्तचरण का उल्लेख है। उसके आचार्यकृत पौरव राजकुमार थे और कोशल देश के राजा हिरण्यनाथ के शिष्य थे, जो सामवेद के प्रसद्धि विद्वान माने जाते थे। कहा जाता है कि

कृत आचार्य ने अपने अन्तेवासियों द्वारा प्राच्य देश में सामवेद की संहिताओं का प्रचार किया।

"यश्चतुर्विंशति प्राच्यं सामगानां संहिताश्चकार।"

यजुर्वेद के लिए जो महान कार्य वैशम्पायन ने किया था वैसा ही पुरुपार्थ सामवेद के लिए आचार्यकृत का था।

अथर्ववेद-

अथर्वा ऋषि द्वारा प्रोक्त अर्थवन् ग्रन्थ के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान आर्थवणिक कहलाते थे। पतञ्जलि ने आथर्वणिको के आम्नाय और धर्म अर्थात् छन्द और धर्मसूत्र का उल्लेख किया है। मौद और पैप्पलाद अथर्ववेद के ही दो चरण थे। अथर्व के एक उप-चरण जाजल का उल्लेख कात्यायन ने किया है। जिसकी सीपना जाजलि नाम के आचार्य ने की थी। जाजलि ब्राह्मण का उल्लेख शान्ति पर्व में हैं

ब्राह्मण साहित्य-

एक दृष्टि से ब्राह्मणों का पद छन्द या शाखा ग्रन्थों के समकक्ष था, अर्थात् दोनों में ही तद्विषयता का नियम लागू होता था और लोक में दोनों का अस्तित्व अध्येतृ-वेदितृ समुदाय या चरण के रूप में पाया जाता था।

संभवतः कई वैदिक चरण ऐसे थे जिन्होंने स्वतन्त्र शाखा ग्रन्थों का विकास न करके अपने अध्ययन के लिए विशिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थों का ही विकास किया था। ऊपर जिन नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें सभी का प्रमाण लगभग केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है।

त्रैंश-चत्वारिंश -

तीस अध्यायों के ब्राह्मण ग्रन्थ को त्रैंश और चालीस अध्याय के ब्राह्मण ग्रन्थ को चत्वारिंश कहा है। कौषीतकी ब्राह्मण में 30 और ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं। इन दोनों की भाषा बहुत प्राचीन है। अतएव हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वे सभी शतपथ कालीन थे।

पुराणप्रोक्त ब्राह्मण-

शतपथ में पुराणप्रोक्त ब्राह्मण और पुराणप्रोक्त कल्पों का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों के उदाहरण में पतञ्जलि ने भाल्लविनः और शाट्यायनिनः ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।

हारिद्रविक और शैलाल-

ये ब्राह्मण भी शतपथ कालीन ब्राह्मण थे। हारिद्रविक ब्राह्मण का प्रमाण यास्क ने निरुक्त में दिया है।

यज्ञवल्क ब्राह्मण-

कात्यायन ने कहा है कि पुराण प्रोक्त ब्राह्मणों का विचार करते हुए याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण का ग्रहण किया जायेगा। क्योंकि वह तुल्यकाल था। अतएव याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण याज्ञवल्किनः नहीं कहे जाते, बल्कि यज्ञवल्कीनि कहलाते हैं। याज्ञवल्क्य को भी शाट्यायन आदि प्राचीन आचार्यों के समकालीन मानते थे। पतञ्जलि ने अपना मत विल्कुल स्पष्टता से प्रकट नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि- "एतान्यपि तुल्यकालानि" अर्थात् ये भी तुल्यकाल है।

यहाँ यदि तुल्यकाल प्राचीन ब्राह्मणकालीन माना जाय, इस विषय में "गोल्डस्टूकर और एगलिंग" ने भी स्वीकार किया है।

यदि यह बात सत्य है कि याज्ञवल्क्य भी शाट्यायन आदि के समान की प्राचीन आचार्य थे तो प्रश्न होता है कि उनके ग्रन्थों में तद्विषयता का नियम लागू क्यों नहीं हुआ और याज्ञवल्क्य के नाम से भी चरण का नाम क्यों नहीं प्रवृत्त हुआ जैसा कि समस्त प्राचीन छन्द और ब्राह्मण एवं कहीं-कहीं कल्पसूत्रों के रचयिता ऋषियों के नाम से भी हुआ।

यह प्रश्न संगत है कि यदि याज्ञवल्क्य का ब्राह्मण भी प्राचीन था तो लोक में उससे सम्बन्धित चरण की सीपना क्यों नहीं हुई। इस निश्चित और स्पष्ट प्रश्न का उत्तर यहीं ज्ञात होता है कि यज्ञवल्क्य तुल्यकाल अर्थात् लगभग वैदिक काल के आसपास मे होने-वाले आचार्य थे जिनके ब्राह्मण को पुराण प्रोक्त माना जाता था। शतपथ के अन्तिम काण्डों में याज्ञवल्क्य का बहुत उल्लेख आया है, और वहीं याज्ञवल्कीय काण्ड याज्ञवक्ल्य विरचित ब्राह्मण है।

बेबर ने भी पीछे से इस मत को मान लिया था कि शतपथ का चौदहवा काण्ड ही कात्यायन के वार्तिक के याज्ञवल्कानि ब्राह्मणनि है और वे शाट्यायन आदि पुराने

ब्राह्मणों की तरह पुराण प्रोक्त नहीं माने जाते थे। शतपथ का चौदहवां काण्ड याज्ञवल्क्य की रचना होने के कारण याज्ञवल्क्य ब्राह्मण नहीं कहलाता बल्कि इसलिए क्योंकि उसमें याज्ञवल्क्य का विशेष उल्लेख आया है। अर्थात् शतपथ का चौदहवां काण्ड याज्ञवल्क्य की स्वयं रचना नहीं वह किसी और का किया हुआ संग्रह है, जो बाद का हो सकता है।

शतपथ का विकास-

इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण साहित्य के कई उदाहरणों का उससे विशेष सम्बन्ध है। इस समय 100 अध्यायों वाला सम्पूर्ण शतपथ यज्ञवल्क्य की ही रचना माना जाता ह।, किन्तु शतपथ ब्राह्मण के कई काण्ड अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में विद्यमान थे और बहुत पीछे चलकर एक महाग्रन्थ के रूप में संगृहीत हुए। उदाहरण के लिए उसके पहले दो काण्ड दर्शपौर्णमासेष्टियों से सम्बन्ण रखते हैं। काण्ड 3-4-5 का सम्बन्ध पशुसम्बन्ध और सोम यज्ञों से है। किसी समय वे इष्टि और पशुबन्ध नामों से अलग पढ़े-पढ़ाये जाते थे, जैसा कि सेष्ट "पशुबन्धमधीने" इस उदाहरण से सूचित होता है। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया गया है। काण्ड 6-7-8-9 का सम्बन्ध अग्नि चयन से है। उसमें शाण्डिल्य आचार्य का प्रमाण विशेष रूप से आता है। ये चार काण्ड अग्नि कहलाते थे, और उनका अध्ययन अलग किया जाता था, जैसा कि साग्नि अधीते और कष्टोग्निः इन उदाहरणों से सूचित होता है। इन सौ काण्डों में सब मिलाकर 60 अध्याय हैं। किसी समय वे षीष्टिपथ नाम से प्रसिद्ध थे, जैसा कि पजञ्जलि ने एक प्राचीन कारिका का उद्धरण देते हुए लिखा है-

"शतषष्टेः षिकन् पथः।" उनके विद्यार्थी षष्टिपथिक कहे जाते थे।

दशम काण्ड अग्नि रहस्य कहलाता है। अग्नि चयन वाल पहले चार अध्यायों का जो विषय है, उसी के रहस्य तत्वों का निरुपण है। ग्यारहवां काण्ड संग्रह कहलाता है, क्योंकि उसमें पहले आये हुए कर्मकाण्ड का संग्रह है। 12-13-14 काण्ड परिशिष्ट कहलाते हैं और इनका विषय भी कुछ पतिपाद्य न होकर फुटकर जैसा है कि। इन्हीं में से अन्तिम चौदहवें काण्ड में वे दार्शनिक और अध्यात्म विषय है, जिनके केन्द्र में याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व है।

"महाभारत में याज्ञवल्क्य को शतपथ के रहस्य संग्रह और परिशेष कर्ता कहा गया है।"

संग्रह का अध्ययन करने वाले छात्र सांग्रहिक कहे जाते थे। बहुत संभव है कि अग्नि रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट नाम के भाग भी यज्ञवल्क्य ब्राह्मण माने जाते थे। 12वें काण्ड को मध्यम भी कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि उससे पहले के दो और बाद के दो काण्ड मिलकर पॉच काण्डों की ग्रन्थ रूप में अलग इकाई थी। सौ अध्यायों वाले

शतपथ का नाम प्रसिद्ध हो जाने के समय भी षष्टिपथ नाम से चालू रहा। इन दोनो का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी षष्टिपथिक और शतपथ इन अलग-अलग नामों से विख्यात थे।

अन्तिम 40 अध्यायों का जो विषय है वह इस प्रकार का है कि केवल उसी का अध्ययन करने के लिए किसी स्वतन्त्र चरण की स्थापना संभाव्य न थी, कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन चरण और शतपथ ब्राह्मण के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि में शतपथ के अन्तिम पॉच काण्ड या चालीस अध्याय पहले साठ अध्यायों की अपेक्षा किसी तरह कम. प्रामाणिक या प्राचीन न थे।

अनुब्राह्मण-

अनुब्राह्मण नाम से भी कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध थे। उनके अध्ययन करने वाले अनुब्राह्मणी कहलाते थे। आर्षेय ब्राह्मण मे तो उस ग्रन्थ को स्वयं की अनुब्राह्मण कहा है। अश्वलायन श्रौत, वैतान श्रौत सूत्रों में अनुब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख है। वैदिक पारायण के अन्त में कहा जाता था-

"स ब्राह्मणनि सानुब्राह्मणनि प्रजापत्यानि बौधायन।"
{गृह्य0- 3/127}

उपनिषद-

स्वभावतः उपनिषदों का युग शतपथ के समकालीन था क्योंकि शतपथ में भी इनका उल्लेख मिलता है। मूल में उपनिषद शब्द का अर्थ रहस्य विद्या का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ विशेष था। कालान्तर में वही शब्द कुछ कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि कौटिल्य में है, जहॉ गुप्तचर विभाग द्वारा प्रयुक्त छल कपट के लिए वह शब्द चल गया था।

कल्पसूत्र-

प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रोक्त कल्प ग्रन्थों का उल्लेख भी आया है। जो शतपथ काल का ही उल्लेख लगता है।

पतञ्जलि ने पराशर कल्प का उल्लेख किया है, जो ऋग्वेद के पाराशर चरण से सम्बन्धित था। कल्पग्रन्थों का मुख्य विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड था। यज्ञों के विविध अंगो पर आश्रित एवं यज्ञ विधियों की व्याख्या करने वाले बहुत से विशेष ग्रन्थों का निर्माण उस युग की आवश्कता थी। बाजपेय और अग्निष्टोम जैसे क्रतु या सोग यज्ञों पर अथवा पाकयज्ञ, नवयज्ञ जैसे हविर्यज्ञों पर व्याख्यान ग्रन्थों की रचना उस समय की जा रही थी।

अलग-अलग देवताओं के लिए पुराड़ाश वनाना उस समय के कर्मकाण्ड का अग था, उनके लिए भी छोटी पद्धतियों की आवश्कता थी, जो पुरोडाशिक कहलाती थी। पुरोडाश बनाने में जिन मन्त्रों का ग्रहण होता था, उनकी सरल व्याख्या करने वाली छोटी पुस्तके पौरोडाशिक कही जाती थी। साधारण ज्ञान रखने वाले ऋत्विजों के लिए इस प्रकार के सहायक ग्रन्थ आवश्यक थे। अध्वर या सोम यज्ञों पर व्याख्यान ग्रन्थ आध्ववरिक और उनके लिए तैयारी करने की विधि वताने वाले छोटे ग्रन्थ पौरश्चरणिक कहलाते थे।

व्याख्यान ग्रन्थों मे एष्टिक पाशुक का काशिका में उल्लेख किया गया है, जो प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ थे। दर्श-पौर्णमानेष्टि की व्याख्या करने वाले शतपथ ब्राह्मण के पहले दो काण्डों का नाम ऐष्टिक था और उसी के तृतीय से पञ्चम काण्डों का पाशुक।

पारायण सम्बन्धी साहित्य-

यज्ञों के समान ही वैदिक पारायण का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थों का भी आवश्यकता थी। वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक कहे जाते थे। ऋगयन का तात्पर्य ऋग्वेद के पारायण से था, जिसकी विधि का व्याख्यान ग्रन्थ आर्गयन कहलाता था।

पारायण कहलाते समय गुरु-शिष्य जिस विधि से मन्त्रों का उच्चारण औश्र अनुकरण करते हैं, उसे चर्चा कहा जाता था। चर्चा में मंत्र के एक-एक पद का विगृहीत पाठ किया जाता था, जैसा भाष्य में लिखा है-

"न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानां वृद्धिः आत्ऐतजति, पस्पशाह्निक।"

चरण व्यूह के अनुसार छन्द या वेद कण्ठस्थ करने में चर्चा मुख्य साधन है। पहले मन्त्र बोलने वाला गुरु श्रावक चर्चक कहलाता था। मन्त्र पढ़कर सुनाया जाता है, उसे श्रवणीय कहा जाता था। पारायण की समाप्ति को श्रवणीय पाद कहा गया है। पारायण के अन्त में जो ऋचा पढ़ी जाती थी उसे उत्थापनी ऋच् कहते थे। उत्थापन करने के लिए जो होम आदि कर्म किया जाता था वह उत्थापनीय कहलाता था। चर्चा में पारंगत हुआ विद्वान् चर्चिक कहलाता था।

पद पाठ के सम्बन्ध का ग्रन्थ पद व्याख्यान और पुनः उस पद व्याख्यान ग्रन्थ को व्याख्यातब्य मानकर उसका भी व्याख्यानपद व्याख्यान् कहलाता था। पदपाठ के एक-एक पद के अर्थों की व्याख्या इस प्रकार के विशिष्ट ग्रन्थों का विषय रहा होगा।

उक्थ-

उक्थ नामक ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले छात्र को औक्थिक कहा गया है। सम्भवतः उक्थ सामवेद का पार्षद ग्रन्थ था। पतञ्जलि का कहना है कि उक्थ किसे कहते हैं? साम उक्थ है। यदि ऐसा है तो तभी सामगान करने वाले औक्थिक कहे जायेंगें। यदि उक्थों का निरुपण करने वाले ग्रन्थ को उक्थ मान लिया जाय तो यह दोष नहीं पड़ेगा। भाष्य के आधार पर कैयट का कथन है कि सामवेद के एक लक्षण ग्रन्थ का नाम उक्थ था। ऋग्वेद की उन ऋचाओं का चुनाव जिनका पाठ होता, द्वारा किसी विशेष अवसर पर होना था, शास्त्र कहलाता है। ऐसे ही उद्गाता द्वारा गेय सामों के संग्रह को उक्थ कहते थे। उक्थों का निश्चय सामवेदीय चरणों की परिषदों का कर्तव्य था। उसके लिए जिस ग्रन्थ का निर्माण हुआ वह उक्थ हुआ उसे पढ़ने पढ़ाने वाले लोग औक्थिक कहे गए।

ज्योतिष-

शतपथ काल में ज्योतिष सम्बन्धी फलादेश का उल्लेख आया है। उस समय के कुछ विशेष शब्द उत्पात्, संवत्सर, मुहूर्त तथा निमित्त आदि है। इनमें से प्रत्येक अध्ययन का विषय था और उसके अध्येता औत्पातिक, सांवत्सरिक, मौहूर्तिक और नैमित्तिक कहे जाते थे।

शरीर के लक्षणों से किसी व्यक्ति का भाग्य कथन और निमित्त या शकुनों से भविष्य कथन ये उस काल के सामान्य विश्वास थे। जिनका बौद्ध साहित्य में प्रायः उल्लेख आया है। कौटिल्य ने मौहूर्तिक और नैमित्तिक लोगों का उल्लेख किया है। यवन राजदूत "मेगस्थ" ने लिखा है-

"विशेषज्ञ लोग वर्ष के आरम्भ में एकत्र होकर दुर्भिक्ष और सुभिक्ष, वृष्टि और सूखा एवं हवाओं के विषय में भविष्य कथन करते हैं।"

दर्शन साहित्य-

शतपथ काल में ही दार्शनिक चिन्तन पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। किसी सिद्धान्त या मत को मति या सृष्टि कहा जाता था। उस समय आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक (नियतवादी) दर्शनों का उल्लेख है। नियतिवादी के मुख्य आचार्य मस्करी गोशाल थे। लोकायत दर्शन नास्तिक दर्शन था। किन्तु न्याय दर्शन से उसका तात्पर्य नहीं है। वह तो समयाचार या पूर्वकाल से प्राप्त नियम, धर्म या दस्तूर के अर्थ में आया है। पर न्याय शास्त्र का जो विषय है उसकी शब्दावली का कुछ आभास कई सूत्रों में है। निग्रह और अनुयोग न्याय के पारिभाषिक शब्द थे। चरक संहिता में निग्रह स्थान और अनुयोग की व्याख्या इस प्रकार है।

"यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धे तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिवचन परीक्षार्थ मदिश्यते। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाने यत्परः को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः।"

किसी प्रति पक्षी के मत का खण्डन करके पहले उसका मुंह बन्द किया जाय, और फिर उसे चिढ़ाया जाय इस प्रकार का वाक्य इसकी पृष्ठभूमि है- जैसे, अनित्यः, शव्द इत्याथ, शव्द अनित्य है, यही तुम कहने चले हो? वाद-विवाद में निगृह्य शव्द का प्रयोग महाभारत में भी आया है। मीमांसा शब्द का भी गणपाठ में उल्लेख आया है। इस विषय का भी अध्ययन होने लगा था। उसके छात्र मीमांसक कहलाते थे।

वास्तु विद्या-

उस काल में वास्तु विद्या, क्षत्र विद्याा और अंग विद्या का भी उल्लेख आया है। व्रह्मजाल सुन्त में भी ये वत्थुविज्जा, खन्तविज्जा और अंग विज्जा एक साथ पढ़ी है।

भिक्षु सूत्र-

इसके विषय मे अधिक ज्ञात नहीं है, किन्तु पाराशर्यकृत भिक्षु सूत्र वर्तमान वेदान्त सूत्र ज्ञात होते हैं, जो कि उपनिषदों पर आश्रित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भिक्षु सूत्रों में सांख्य सूत्रों का पूर्व रूप था। उसकी रचना भिक्षु पञ्चशिख की थीं। महाभारत के अनुसार वह पाराशर्य गोत्रीय था-

"पाराशर्यसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः।।"
{महा शान्ति पर्व 308/24}

पञ्चशिख के इस सूत्र ग्रन्थ का झुकाव वेदान्त की ओर अधिक था। कुछ भी हो मूल भिक्षु सूत्रों की रचना वैदिक चरण के अर्न्तगत हुई, व्यक्ति विशेष का उसके साथ संबन्ध आनुषंगिक था। मूलतः ऋग्वेद की वाष्कल शाखा के अर्न्तगत पाराशार्य चरण स्थिति थी। इसी चरण के कल्प सूत्र का अध्ययन करने वाले पाराशर कल्पिक या पराशराः और भिक्षु सूत्रों के अनुयायी पाराशरिणः कहलाते थे।

आख्यान और काव्य-

शतपथ काल में आख्यानों का भी विशाल साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। आख्यानों के उदाहरण में पतञ्जलि और काशिका ने भार्गव राम और ययाति के प्राचीन

आख्यानों वाले ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसमें प्रत्येक दो भागों में बंटा हुआ था। उनकी संज्ञा पूर्वाधिराम और अपराधिराम एवं पूर्वययात और अपरयायात थी। महाभारत के ययाति उपाख्यान की पुष्पिका में ये दोनों नाम आये हैं। उस समय शिशुक्रन्दीय, यमसर्भाय औश्र इन्द्र जननीय का उल्लेख किया है। शिशुक्रन्दीय सम्भवतः कृष्ण जन्म का कथा पर आश्रित था। जिसमें जन्म के समय शिशु कृष्ण के रोने से कथा का पट परिवर्तन होता है। दूसरे यमसर्भीय काव्य में यम की सभा से सम्वन्धित किसी कथा का आधार था। संभव है नचिकेता के यम के पास जाने की कथा पर आश्रित हो। इन्द्र जननीय ग्रन्थ में इन्द्र के जन्म और वृत्रासुर के वध की वस्तु कथा होनी चाहिए, जो कि अत्यन्त प्राचीन उपाख्यान था।

महाभारत-

उस काल में भारत और महाभारत इन दोनों का उल्लेख आया है। अश्वलायन गृह्य सूत्र में भी भारत और महाभारत का एक साथ उल्लेख है।

"अथ ऋषयः शतर्चिनों माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भारद्वाजो वशिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति। प्राचीनावीती-सुमन्तु-जैमिनि वैशम्पायन-पैलसूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्याः।"

{आश्वलायन ग्रह्य 3/4}

भारत चतुर्विंशति साहस्री संहिता का नाम था। उसमें धर्मनीति दर्शन आदि के अनेक उपाख्यान जोड़कर जो उपबृहंण किया गया, उससे शतसाहस्री संहिता महाभारत का स्वरुप बना। यह बृहत्‌ संस्कार भार्गवों के किया। इस नये संस्करण को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि मूल ग्रन्थ जिसका नाम भारत था भूल में पड़ गया और आगे चलकर विल्कुल लुप्त हो गया। आश्वालयन ग्रह्य सूत्र के समय तक मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान था।

चतुर्थ परिच्छेद

व्याकरण

प्राचीन काल में व्याकरण शास्त्र का बहुत विस्तार था, अब केवल अष्टाध्यायी उसका एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ बच गया है। जिससे व्याकरण के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। व्याकरण को शब्द विद्या और वैयाकरण को शब्दकार या शाब्दिक भी कहते थे।

"शब्दं करोति शाब्दिकः।"

पूर्व वैय्याकरण-

शाकटायन और पतञ्जलि के बीच में शब्द विद्या और व्याकरण-शास्त्र का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ था। अनेक प्रमाण भूत आचार्यों ने अपने प्रातिभ ज्ञान से शब्द के विषय में गहन और विस्तृत ऊहापोह करते हुए ग्रन्थों की रचना की प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी मे लगभग 65 आचार्यों के नाम आये हैं, जो इस प्रकार हैं-

आग्निवेश्य- (तै0), आग्निवेश्यायन- (तै0), आग्रायण- (नि0), आत्रेय- (तै0), आन्तरेय- (ऋ0च0), आपिशलि- (पा0), आह्वरकाः (तै0) उख्य- (तै0), उत्तमोत्तरीयः- (तै0), उदीच्याः- (पा0), औदुम्बरायण (नि0), औदव्रजि- (ऋक् तन्त्र साम प्राति शाख्य), औपमन्यव- (नि0), औपशिवि (य0), और्णनाभ- (नि0), काण्डमायन (तै0), काण्व (य0), कात्थक्य (नि0), काश्यप- (य0पा0), कौण्डिन्य (तै0), कौत्स (नि0), कौहली पुत्र (तै0), कौष्टुकि (नि0), गार्ग्य (ऋ0य0नि0पा0), गालब (नि0,पा0), गौतम (तै0), चर्मशिरस् (नि0), चाक्रवर्मण (पा0), जातुकर्ण्य (य0), तैटीक (नि0), तैत्तिरीयकाः (तै0), दाल्भ्य (य0), नैगि (ऋक्तन्त्र), पंचालाः (ऋ0), पौष्करसादि (पा0,तै0), प्राच्याः (ऋ0,पा0), प्लाक्षि (तै0), प्लाक्षायण (तै0), बाभ्रव्य (क्रमकृत,ऋ0), भारद्वाज (नै0पा0), माण्डूकेय (ऋ0), माशर्कीय (तै0), मीमांसकाः (तै0), यास्क (ऋ0), वाडभीकार (तै0), वात्स (तै0), वात्स्य (च0), वार्ष्यायणि (नि0), बाल्मीकि (तै0), वेदमित्र (ऋ0), व्याडि (ऋ0), शतबलाक्षमौद्गल्य (नि0), शाकटायन (ऋ0,य0,च0,नि0,पा0), शाकपूणि (नि0), शाकलाः (ऋ0), शाकल्य (ऋ0,य0,पा0), शाकल्यपितृ (स्थविर)-(ऋ0), शाखायन (तै0), शैत्यायन (तै0), शौनक(ऋ0य0पा0), सांकृत्य (तै0), सेनक (पा0), स्थौलष्ठीवि (नि0), स्फोटायन (पा0), हारीत (तै0)।

{मैक्समूलर कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास}

यास्क के समय मे निरुक्त के अध्ययन मे भी अधिक व्याकरण का महत्व हो गया था, उन्होंने निरुक्त को व्याकरण का पूरक कहा है। कालान्तर मे व्याकरण की यह पदवी और अधिक उच्च हुई। एक प्रकार से वैयाकरण लोक पर छा गये और लोक जीवन के विविध अंगो का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके उन्होंने अपने शास्त्र में शब्दों का सग्रह किया और व्याकरण की रचना की।

"शब्दास्सुवहवः संकलिताः तानादाय पाणिना स्मृतिरुपनिबद्धा।"
{काशिका- 4/1/114}

पतञ्जलि ने व्याकरण को सब वेदांगो में मुख्य कहा है। उसकी इस स्थिति में आज तक कोई अन्तर नहीं आया है। विद्याओं के आपेक्षित मूल्यांकन में व्याकरण को वेद चक्षु कहा गया। यह सत्य ही है, क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने की जैसी युक्ति व्याकरण से प्राप्त होती है, अन्य वेदांगों से नहीं।

पाणिनि से पूर्व जो अनेक आचार्य थे उनमें से अधोलिखित पूर्वाचार्यों का अष्टाध्यायी में नामतः वर्णन है, जो इस प्रकार है-

(1) शाकटायन-

यास्क के अनुसार शाकटायन का मत था कि सब नाम या संज्ञाएँ धातुओं से बनती हैं। पर काशिका में एक उदाहरण सुरक्षित रह गया है-

"अनुशाकटायनं वैयाकरणाः।" अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से घट कर हैं। यह उस पूर्व युग का उदाहरण है जब शाकटायन का यश सूर्य के समान तप रहा था और पाणिनि की उदयोन्मुखी ख्याति क्षितिज पर थी।

(2) शाकल्य-

शाकल्य ने ऋग्वेद का पदपाठ स्थिर किया। पदपाठ में जो इति का प्रयोग है, उसे पाणिनि ने शाकल्यकृत अनार्ष इति कहा है। उसे ही सूत्र में उपस्थित कहा गया है। तथा जो पदकार का उल्लेख है, जो सम्भवतः शाकल्य ही है।

(3) आपिशालि-

यह भी शतपथ काल के विशिष्ट वैयाकरण थे। पतञ्जलि ने आपिशलि-पाणिनीय-ब्याडीय-गौतमीयाः इस प्रकार पौर्वापर्य क्रम से इन चारों के शिष्यों का

उल्लेख किया है। काशिका में उल्लेख है कि आपशलि के व्याकरण मे गुरु और लघु सबन्धी नियमों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया था।

"आपिशल्युपज्ञ गुरुलाघवम्।"

सम्भव है पाणिनि के ह्रस्व दीर्घ प्रकरण में आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया हो।

(4) गार्ग्य-

यास्क ने धातुओं से नाम की उत्पत्ति के विषय में गार्ग्य के मत का उल्लेख किया है। ऋक् और यजुः प्रातिशाख्य में भी गार्ग्य का नाम आया है।

(5) मालव-

"निरुक्त और ऐतरेय आरण्यक में गालव का मत उद्घृत किया गया है। शैशिरि शाखा में गालब को शौनक का और शाकटायन को शौशिर का शिल्प कहा है। गालव का चरण देवमित्र शाकल्य के चरण का अवान्तर विभाग था।"

{भगवदत्त, वैदिक वाङ्मय-183}

शान्ति पर्व में उल्लेख है कि बाभ्रव्य पाञ्चाल नाम के आचार्य ने पहले क्रम पाठ निश्चित किया था। फिर मालव ने एक शिक्षा की रचना की और उसी क्रम पाठ को सुव्यवस्थित किया।

"पाञ्चालेन क्रमः प्राप्त स्तस्माद् भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्य गोत्रः स बभौ प्रथमः क्रमपारगः।
नारायणाद् बरं लब्ध्वा प्राप्य योग मनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः।।"

{शान्ति पर्व- 330/37-38}

(6) भारद्वाज-

भारद्वाज ऐन्द्र व्याकरण की परम्परा में थे। भारद्वाजीय आचार्यों ने अपने पृथक वार्तिक बनाए थे जिनका पतञ्जलि ने कई बार उद्धरण दिया है। ऋक् और तैत्तिरीय प्रातिशाख्यों में भारद्वाज का प्रमाण आया है।

(7) काश्यप-

यजुः और तैत्तिरीय प्रतिशाख्य मे काश्यप का उल्लेख आया है। महाभारत के शान्ति पर्व से ध्वनित होता है कि काश्यप का कोई निरुक्त ग्रन्थ नहीं था।

इसके अतिरिक्त 'सेनक', स्फोटायन तथ चाक्रवर्मण आदि इन आचार्यो के नाम अष्टाध्यायी अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलते।

पूर्वाचार्य सूत्र-

पूर्ववर्ती जिन व्याकरणों की सामग्री पाणिनि ने अपने शास्त्र में परिग्रहीत की है उसमें एक भी अब नहीं बचा है, सब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गयें। केवल दो चार सूत्र ही छिट-पुट मिले हैं। किन्तु अपने वार्तिक में कात्यायन ने पूर्व सूत्र का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने स्वीकार किया है कि अनुपसर्जनात् यह पाणिनि सूत्र किसी पूर्व व्याकरण से लिया गया था। अन्यत्र पतञ्जलि ने एक कारिका उद्घृत की है, जिसमें कहा गया है कि पूर्व सूत्र में वर्ण को अक्षर कहते थे।

"पूर्व सूत्रे वर्णस्य अक्षरमिति संज्ञा क्रियते।"

कैयट ने सूत्र एक पाठान्तर दिया है, जो आपिशलि के व्याकरण में था-

"मन्त्र कर्मण्यनादर उपमाने विभाषा प्राणिष्विति आपशलिरधीते स्म।"

कैयट ने यह प्रमाण किसी प्राचीन टीका से लिया होगा, क्योंकि उनके समय तक 1100 ई0 के लगभग आपिशलि के व्याकरण का अस्तित्व संभव नहीं जान पड़ता। फिर भी आपिशलि और पाणिनि दोनों में इस सूत्र का जो पाठ है-

"मन्य कर्मण्य नादरे विभाषा पाणिषु"

उसकी तुलना करने से यह महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है कि पाणिनि ने किस प्रकार सर्वांश में स्वल्प परिवर्तन के साथ पूर्वाचार्यों की सामग्री को अपने व्याकरण में स्थान दिया था।

पतञ्जलि ने एक सूत्र के वार्तिक पर लिखा है-

"अस्तिं सकारमातिष्ठते" न्यास में इसे आचार्य आपिशलि के सूत्र की विशेषता कहा है। उनके व्याकरण के अस् धातु का रूप केवल स् (सकार) मात्र था।

पतञ्जलि ने एक वार्तिक में आपिशलि विधि की व्याख्या करते हुए आपिशलि का एक सूत्र उद्घृत किया है-

"धनुरनत्रि कमुत्पादयति।"

न्यासकार ने लिखा है कि धनोरञः यह आपिशलि का सूत्र था। कात्यायन ने आपिशलि के व्याकरण का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों का नाम लिया है। पतञ्जलि ने अपिशलि के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ब्राह्मणी छात्रा को आपिशाला ब्राह्मणी कहा है।

पञ्च व्याकरण-

एक वार्तिक के उदाकरण में काशिका ने पञ्च व्याकरण प्रयोग दिया है, जो पॉच व्याकरणों का माध्यम करने वाले छात्रों की संज्ञा थी। ये पॉच व्याकरण कौन थे? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अष्ट शाब्दिकों की जो श्लोकवद्ध सूची मिलती है वह इस प्रकार है।

"इन्दश्चन्द्रः काशकृत्सनापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिका।।"

उसमें से चन्द्र अमर और जैनेन्द्र के नाम निकाल दिये जॉय, जो शेष वचते हैं वे ही प्राचीनों के पञ्च व्याकरण थे अर्थात् शाकटायन आपिशलि, भारद्वाज पाणिनि और काशकृत्सन के व्याकरण।

पूर्वाचार्य की संज्ञाएँ-

अष्टाध्यायी में पाणिनि ने टि, घु, भ आदि कितनी ही नई संज्ञाएँ बनाई है, किन्तु अनेक महासंज्ञाएँ उनके पहले से चली आती थी, जिन्हें सूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है, जैसे- समास, अव्यय कर्मप्रवचनीय आदि। किन्तु यहाँ इस प्रकार की संज्ञाओं की चर्चा न करके हम उन संज्ञाओं का नामोल्लेख करना चाहते हैं, जो पाणिनि से पूर्वकाल के ऐन्द्र आदि व्याकरणों में प्रचलित थी। जिस समय पाणिनीय शास्त्र का निर्माण हो गया, उस समय भी उन संज्ञाओं का प्रचलन बन्द नहीं हुआ। आश्चर्य तो यह है कि पाणिनीय शास्त्र की परम्परा में ही पूर्वाचार्य संज्ञाओं का उपयोग होता रहा।

व्याकरण शास्त्र का पाठ्यक्रम-

पाणिनीय व्याकरण से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि आरम्भ में व्याकरण शास्त्र के मुख्य प्रकरण क्या थे, और पठन-पाठन की क्या प्रणाली थी।

कात्यायन ने प्रश्न किया है कि व्याकरण किसे कहा जाय और उत्तर दिया है कि-

"लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्"

अर्थात् लक्ष्य और लक्षण इन दोनों को मिलाने से व्याकरण बनता है। लक्षण क्या और लक्ष्य क्या? भाष्य में आया है कि शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। व्याकरण पढ़ने से पुराने ढंग के बारे में पतञ्जलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द को अलग-अलग घोटते थे।

"प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द पारायणं प्रोवाच।"

पीछे जब यह सूझ हुई कि अनेक शब्दों के रूपों में सदृश्य है और उनके निर्माण में कुछ नियमों का अनुशासन है तो उत्सर्ग और अपवाद रूपी नियम बनाए गये और नियमों का लक्षण कहा गया। सूत्र शैली में होने के कारण लक्षणों को सूत्र कहा गया, तब से ही सूत्र व्याकरण कहलाने लगा। सूत्रों का सबसे मजा हुआ रूप पाणिनीय अष्टक में प्राप्त होता है। ऐसे लोग जो एक-एक बार साधु शब्द या प्रातिपदिक को अलग-अलग कण्ठ करते थे, इन्हें स्वयं पाणिनि ने प्रतिकंठिक कहा है। जिस समय पाणिनि ने प्राति कंठिक कहा है। जिस समय व्याकरण के सूत्र बन गये उस समय भी कुछ अवधि तक लक्ष्य (लोक प्रयोग) द्वारा और लक्षण (सूत्र) द्वारा व्याकरण के ज्ञान कराने की प्रक्रिया अलग-अलग चलती रही होगी। कम से कम पतञ्जलि के समय तक इनकी परम्परा मानी जा सकती है। लक्ष्य या प्रातिपदिक शब्दों का अध्ययन करने वाले छात्रों को लाक्षणिक और उनके सूत्रगत नियमों का अध्याय करने वाले छात्रों को लाक्षिक और उनके सूत्रगत नियमों का अध्ययन करने वाले छात्रों को लाक्षणिक कहा गया है।

"अनु सूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेद्विगोश्च लः।"

पहली परम्परा लक्ष्य या प्रातिपादिकों द्वारा ही व्याकरण पढ़ने की प्रथा थी। बाद में नियम या सूत्रों का निर्माण हुआ और उसका नाम व्याकरण हो गया।

"सूत्रे व्याकरणे- किमिह तत् अन्यत् सूत्राद् व्याकरणं यस्यादः सूत्र स्यात्।"

कालान्तर में प्रतिपदोक्त शब्दों द्वारा व्याकरण के अध्ययन की पद्धति लुप्त हो गयी। सूत्रों का अध्ययन की व्याकरण ज्ञान का एक मात्र साधन माने जाने लगा। व्याकरण के कितने विषय या प्रकरण उस समय आचार्यों के सम्मुख थे, इसका कुछ परिचय सूत्रों में और उदाहरणों में आए हुए विशिष्ट प्रयोगों से प्राप्त होता है।

पाणिनि ने शब्दों को दो भागों में बॉटा है- नाम (संज्ञाएं) और आख्यात (क्रियाएँ)। नामों का निरूपण करने वाला प्रकरण नामिक और आख्यान का आख्यानिक कहलाता था। काशिका ने इन्हीं व्याख्यानपरक ग्रन्थों को सौप और तैंङ् कहा है, माथ की कार्त नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया गया है। इस समय जिन्हें सुवन्त, तिङ्त और कृदन्त कहते हैं। उन्हीं को प्रातिपादिक ये प्रचीन प्रकरण थे।

"सुपां व्याख्यानः सौपो ग्रन्थः, तैङः, कार्तः।"

प्रक्रिया कौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी में सुवन्त और तिङ्न्त का जो विभाग है, उसकी परम्परा इन शब्दों में सूचित होती है। पूर्वपद और उत्तरपद, विषयों पर लिखे हुए ग्रन्थ या लेखकों के लिए ये शब्द थे। अष्टाध्यायी में उत्तरपद और पूर्वपद के कार्यों का प्रकरण अलग है। प्रतिकण्ठिक अर्थात् प्रतिकाण्ठ या प्रातिपदिक शब्दों का प्रतिपद पाठ पाणिनीय गणों में है। संभव है इस प्रकार के संग्रह की पहले भी कोई परम्परा रही है। शब्दों के अर्थ विचार के प्रतिपादक ग्रन्थ को आर्थिक कहा जाता था। गुण और अगुण का तात्पर्य गुण बृद्धि से है। गुण बृद्धि का अध्ययन करने वाले गौणा गुणिक कहलाते थे। गुण और बृद्धि इन दोनों प्रकरणों को एक साथ अथवा अलग-अलग भी पढ़ते थे। पतञ्जलि ने समास को समन्त और उसके व्याख्यान को सामस्तिक एवं उदान्त (अनत) और अनुदात्त (नत) स्वरों का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ नातानतिक कहा है।

संहिता या सन्धि के प्रकरण को सांहित कहते थे। षत्व और णत्व का प्रकरण भी व्याकरण में और उससे पहले प्रातिशाख्यों में महत्वपूर्ण था। मूर्धन्य विधान से संबन्धित इस प्रकरण का प्रतिपादक ग्रन्थ षात्वणत्विकं कहा जाता था। सामवेद के ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में भी मूर्धन्यादेश पर अलग प्रकरण है, किन्तु वह पाणिनि के जैसा प्रतिष्णात नहीं है। कुछ उदाहरण ऐसे है जो उन प्रकरणों के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, जिसका साक्षात् रूप से अष्टाध्यायी में विधान नहीं पाया जाता। शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्वन्ध है, इसका विचार करने वाला प्रकरण। ज्ञात होता है कि व्याडि के संग्रह में शब्दार्थ सम्बन्ध का विस्तृत विचार था और उसी पृष्ठि भूमि में कात्यायन का सिद्धे शब्दार्थ संबन्धे वार्तिक लिखा गया। इस प्रकार के ग्रन्थ भी उस समय रहे होंगें अथवा कुछ वैयाकरण इा विषय की उहापोह में रूचि लेते रहे होगें। पर पाणिनि का दृष्टिकोण स्पष्ट था।

वे इस पचड़े में नहीं पड़ते कि पिता और पुत्र, आचार्य और अन्तेवासी, राजा और मन्त्री में कौन मुख्य और कौन गौण है। वैयाकरण को इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए। सम्भवतः ये दोनों शब्द प्रधान और उपसर्जन के लिए थे एवं इस विषय का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ प्राथमिक और गौणिक कहलाते थे। आपिशलि के व्याकरण में गुरु लाघव यह स्वतन्त्र विषय था, जिसका प्रथम बार विस्तृत विवेचन आपिशलि ने ही किया था।

"आपिशलि का ग्रन्थ तो लुप्त हो गया है, पर अनुमान होता है, कि उसकी सामग्री पाणिनि के ह्रस्व दीर्ध प्रकरण मे सुरक्षित है।"

{कीथ संस्कृत साहित्य का इतिहास}

यह कहना कठिन है कि यहाँ भर्तृहरिकृत विशिष्ट ग्रन्थ इष्ट था, अथवा उससे पहले भी इस विषय का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ था।

लोक में प्रचलित भाषा का प्रमाण मानने के विषय में पाणिनि ने अपना दृष्टिकोण सूत्र काण्ड में व्यक्त किया है। पाणिनि से पहले के वैयाकरण विवादास्पद विषयों पर अपनी संमति देते थे, जैसा कि कात्यायन और पतंजलि द्वारा उद्घृत कई प्रसंगों से विदित होता है। फिर भी इस विशेष प्रकरण में उन्होंने पूर्व पक्ष रखकर फिर सिद्धान्त पक्ष में अपना मत देने का क्रम अपनाया है। वे संज्ञा या लोक में प्रचलित सामाजिक व्यवहार और भाषा के रूपों का सर्मथन करते हैं, और व्याकरण के लिए उसे ही प्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में योग प्रमाण अर्थात् व्युत्पत्ति पर आश्रित शब्द के अर्थ से लोक प्रमाण या संज्ञा प्रमाण हमेशा श्रेष्ठ है। क्या व्याकरण ऐसे प्रश्नों पर अपना निर्णय दे जैसे- अद्यतन, ह्यस्तन, श्वस्तन अर्थात् आज का दिन बीता हुआ दिन और आने वाला दिन कब से कब तक माने जायँ। कितना पहले बीता हुआ काल परोक्ष भूत लिया जाय, द्रोण की कितनी तोल है? योजन का कितना आयाम है? कौन प्रधान कौन गौण है? ऐसे भी लोग थे, जिन्हें इस बात का आग्रह था कि जब तक अद्य का निर्णय न हो जाय तब तक सूत्र चरितार्थ न होगा।

व्याकरण में इन सब सामाजिक व्यवहारों के निर्णय की आवश्कता नहीं क्योंकि वैयाकरण की दृष्टि में लोक की परिभाषाएँ या संज्ञाएँ अन्तिम रूप से प्रमाण मानी जाती है। उदाहरण के लिए आरम्भ में यह बात ठीक न थी कि जिस भूप्रदेश में पंचाल क्षत्रिय आकर बसे वह पंचाल जन के नाम से पंचाज जनपद कहलाया। किन्तु इस घटना घटित हुए बहुत समय बीत चुका था। कालान्तर में तो पंचाल जनपद में और भी बहुत से लोग आ बसे थे। लोगों को पंचालाः शब्द से पंचाल जनपद का बोध स्वतः ही हो जाता था, उसे बोध का हेतु यह नहीं था कि वहाँ पंचाल क्षत्रियों का निवास था। वैय्याकरण को वस्तु स्थिति का सामना करना चाहिए उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि पंचालाः शब्द का निर्वचन पंचाल क्षत्रियों का निवास भूमि इस व्युत्पत्ति के आधार पर करे। ऐसे की भाषा में और भी सैकड़ों स्थान नाम थे, जिनके मूलभूत ऐतिहासिक कारणों का अब कुछ महत्व न रह गया था। इस दृष्टिकोण से प्रवृत्त हुआ वैय्याकरण लोक में प्रचलित शब्द रूपों के आधार पर अपनी सामग्री का संकलन और शास्त्र की रचना करते है।

संज्ञा प्रमाण-

संज्ञा प्रमाण या लोक के प्रति पाणिनि की जो प्रबृद्ध आस्था थी, उसका सुन्दर सुफल हुआ। उनका दृष्टिकोण ठीक वैसा की बन गया जैसा महाभारत में लिखा है-

"सर्वार्थानां व्याकरणाद वैयाकरण उच्चते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।।"
{उद्योग पर्व- 43/36}

जीवन के सर्वक्षेत्रों में जिन शब्दों का व्यवहार होता है, उनके अर्थों का विचार वैयाकरण को करना चाहिए। जो इस प्रकार लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करना है, वही समग्र शब्दों का संकलन कर सकता है। पूर्व के वैयाकरण स्वर, मूर्धन्य, संप्रसारण, सन्धि समास, नाम, आख्यात आदि के विषय में नियमों का विधान करते थे। पाणिनि ने वह सब तो किया ही, किन्तु उससे बहुत आगे बढ़कर कृदन्त और तद्धित के दो महाप्रकरण तैयार किये। शब्दों में नए-नए प्रत्यय जोड़कर किस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है, इस विषय की बारीक छान-बीन (महती सूक्ष्मेक्षिका) सूत्रकार ने की। प्रत्यय की शक्ति से शब्द जिस नए अर्थ का बोध कराता है, उस शक्ति को वृत्ति कहते हैं। "परार्थाभिधानां वृन्तिः।" इस प्रकार के अर्थों का क्षेत्र उतना की विस्तृत है, जितना जीवन के विभिन्न व्यवहार। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। यास्क ने लिखा है कि वृत्तियों का ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। उनके विषय में सन्देह बना रहता है कि ठीक अर्थ क्या है-

"विषय वृत्यो कि वृत्तयो भवन्ति।"
{निरुक्त- 2/1}

जैसे दण्ड्य के शब्द के विषय में यह कहना कठिन है कि दण्डेन संपद्यते अथवा दण्डमर्हति किस अर्थ में दण्ड शब्द ये यत् प्रत्यय हुआ है। यास्क ने इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए कहा कि तद्धित और समास के शब्दों को खूब ध्यानपूर्वक तोड़कर अर्थों की कोटियों पर विचार करते तब उनका निर्वचन करना चाहिए-

"अथ तद्धित समासेष्वेकपर्वसु चानेक पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात।"
{निरुक्त}

लोक में जितने प्रकार की वृत्तियां थी, उनकी सबकी सूची बनाकर उनके भिन्न-भिन्न अर्थों का और शब्दों में जुड़ने वाले प्रत्ययों का निश्चय किया। द्रव्यं हरति, द्रव्यं वहति, द्रव्यं आवहति, इन प्रथक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यक शब्द का निर्वचन तब तक यथार्थ नहीं हो सकता था जब तक कि तीनों अर्थों पर ध्यान न दिया जाता क्योंकि लोक में तीनों ही अर्थों में शब्दों का प्रयोग चालू था, उन सबका संग्रह विश्लेषण वर्गीकरण सूत्रकार ने किया। इसी को महाभारत के शब्दों में "सर्वार्थानां व्याकरणम्" और निरुक्त में अनेक पर्वसु प्रविभज्य निर्वचन कहा है। अंक संघ, लक्षण, धर्म आदि कई सौ अर्थों का वर्गीकरण तद्धित के महाप्रकरण में प्राप्त होता है। गुरु-शिष्य, राजा, मन्त्री, वाणिज, गोपाल, कृषक

भिक्षु, लेखक, नाविक, सूद, लुब्धक आदि के जीवन के अनेक क्षेत्रों से आचार्य ने शब्दों का संकलन किया है, और व्याकरण की दृष्टि से उन्हें अपने सूक्ष्म ईक्षण का विषय बनाया। लोक से शब्द सामग्री का संग्रह पाणिनि शास्त्र की निजी विशेषता थी। इसी कारण पाणिनीयं महत् सुविहितम् यह श्रेयसी उक्ति इसके लिए चरितार्थ हुई। पाणिनि ने अष्टाध्यायी को जीवित भाषा का यथार्थ प्रतिबिम्ब या दशामुखी दर्पण बनाया और व्याकरण शास्त्र को चरण परिषदों के सीमित क्षेत्र से मुक्त करके लोक की विस्तृत परम्परा के साथ मिला दिया। कात्यायन और पतञ्जलि ने भी अपने महान आचार्य की परम्परा को अक्षुण्य रखते हुए बराबर लोक-प्रमाण को महत्व दिया है।

संस्कृत भाषा-

कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि व्याकरण के समय में संस्कृत लोक की भाषा थी, या केवल साहित्य की भाषा ग्रियर्सन ने अशोक के धर्म लेखों की बोलचाल की भाषा पर ध्यान देते हुए तर्क किया था कि यदि पाणिनि ने अपना व्याकरण लोक भाषा के लिए लिखा होता तो उनके दो सौ वर्ष बाद भी अशोक के समय मे भाषा का इतना अधिक परिवर्तन कैसे हो गया। इसके विपक्ष में गोल्डस्टूकर, कीथ और लीविश का निश्चित मत है कि पाणिनी संस्कृत अपने समय की शिष्ट समाज की शिष्ट समाज में प्रयुक्त बोलचाल की भाषा थी। कीथ ने लिखा है कि-

"एक तो पाणिनि ने स्वयं ही कई बार उसे भाषा कहा है जिसका सीधा सादा अर्थ नित्य व्यवहार में आने वाली बोलचाल की भाषा की होता है। दूसरे यदि पाणिनि का भाषा को बोलचाल की भाषा न माना जाय तो उनके कितने ही सूत्र व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि वे बोलचाल की भाषा को ध्यान में रखकर ही बनाए गये थे।"

पाणिनि की भाषा का क्षेत्र छन्द और ब्राह्मण की भाषा से कहीं अधिक विस्तृत था। पतञ्जलि ने उसके विषय में सच्ची स्थिति का उल्लेख किया है- संस्कृत उन शिष्ट लोगों के प्रयोग में आने वाली भाषा है, जो व्याकरण पढ़े बिना भी उसे शुद्ध रूप में बोलते हैं। पतञ्जलि के इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके समय में साधारण लोगों की बोलचाल में कई तरह के अपभ्रंश रूप थे। जैसे एक गौ शब्द को कई जनपदों में गावी, गोणी, गोपोतलिका कहा जाता था-

"एकै कस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।"

पतञ्जलि जिस भाषा में लिखित थे, उसे ही बोलते भी थे। पर उनकी गाएँ घेरने वाला ग्वाला अपनी बोली बोलता था। यद्यपि पतञ्जलि की भाषा भी वह समझता था।. कात्यायन ने लोक की भाषा को व्याकरण संमत भाषा कहा है, किन्तु इसके साथ ही एक वार्तिक में आणवयति आदि प्राकृत धातुओं के अस्तित्व का उल्लेख किया है।

"प्रयोगे सर्व लोकस्य" वार्तिक की ध्वनि यह कि पाणिनीय भाषा के शब्दों का शुद्ध प्रयोग लोक के विभिन्न स्तरों में व्याप्त था।

पाणिनि का मध्यम पथ-

पाणिनि ने व्याकरण सम्बन्धी विभिन्न मतों के सम्बन्ध में सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है। उदाहरण के लिए उनके समय में धातुओं से संज्ञा शब्दों की व्युत्पत्ति के समय में गहरा मतभेद था। नैरुक्त सम्प्रदाय और वैयाकरण में शाकटायन का मत था कि संज्ञा शब्द धातुओं से बने हैं।

"तत्र नामाति आख्यातिजानीति शाकटायनों नैरुक्त समयश्च।" (1/4)

इसके विपरीत गार्ग्य जो कि संभवतः नैरुक्त संप्रदाय के थे, और दूसरे वैयाकरणों का मत था कि खींचतान करके प्रत्येक शब्द को धातु से सिद्ध करना ठीक नहीं। यास्क स्वयं नैरुक्त मत के थे। नाम धातुज हैं, यह उनका मत था, किन्तु शाकटायन के अनुयायी जिस प्रकार जबरदस्ती तोड़ मड़ोर कर प्रत्येक संज्ञा शब्द को धातु प्रत्यय से व्युत्पन्न कर देते थे, वह यास्क को पसन्द न था। उन्होंने लिखा है कि यद्यपि धातुओं से संज्ञा शब्दों के निर्वचन सिद्धान्त ठीक है, पर जो बिना विचारे उसका प्रयोग करते हैं वह उनका दोष है, शास्त्र का दोष नहीं।

"योऽनन्वितेऽथे सम्चस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा।"
{1/1/4 निरुक्त}

अर्थ प्रतीति-

शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति पर निर्भर है अथवा लोक के प्रयोग पर, इस विषय में भिन्न-भिन्न मत थे। उदाहरणार्थ गौ को इसलिए गौ कहते हैं, क्योंकि वह गमन करती है। किन्तु जितनी वस्तुएँ गति करती है, सब को गौ नहीं कहा जाता।, अतएव व्युत्पत्ति ही अर्थ का कारण है- यह कहना कठिन है। लोक रूढ़ि भी इसमें प्रमाण हैं, जैसा कि कात्यायन ने "दर्शनं हेतु" वार्तिक में कहा है। यास्क ने भी इन दोनों पक्षों का उपन्यास किया है। जो कोई मार्ग तय करे, उसे ही अश्व कहना चाहिए, पर वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है-

"यः कश्चनाध्वानमश्नुवीत, अश्वः स वचनीयः।"

लोक में जो शब्द जिस प्रसिद्ध अर्थ में लिया जाता है, उसी में उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये।

"यथाचापि प्रतीतार्थानि स्युः [illegible]।" {1/2}

पाणिनि ने दोनों ही पक्षों में सत्य का अंश माना है क्योंकि लोक में जो रूढ़ है, उनको भी वे प्रमाण मानते हैं, और जिन शब्दों में धातु प्रत्यय के ज्ञान से अर्थ प्रतीति होती है, उन्हें भी प्रमाण मानते हैं। योग प्रमाण और संज्ञा प्रमाण दोनों ही पक्ष आचार्य को अपने-अपने स्थान पर इष्ट थे।

जाति और व्यक्ति-

गौ शब्द का अर्थ गौ व्यक्ति या एक गाय है, अथवा गोत्वजाति- यह प्राचीन आचार्यों में विवाद का विषय था। जैसा कात्यायन ने लिखा है, आचार्य वाजप्यायन का मत था कि शब्द जाति का बोध कराता है। उसके प्रतिकूल आचार्य व्याडि का मत था कि शब्द द्रव्य या एक वस्तु का ग्रहण करता है। पतञ्जलि ने दोनों का समन्वय करते हुए लिखा है कि पाणिनि को दोनो मत ग्राह्य थे। इसके द्रव्य पक्ष में कहा गया है कि-

"किं पुनराकृतिः पदार्थ अहोस्विद् द्रव्यम्। कथं ज्ञायते। उभयथाह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थमत्वा जात्याख्या मेकस्मिन या बहुबचनन्यतस्यामित्युच्यते द्रव्यं पदार्थ मच्वा सरूपाणामित्येकशेष आरभ्यते।"

{पस्पशा0}

अनुकरण-

यास्क ने इस विषय में दो मत दिये हैं। आचार्य औपमन्यव का मत था कि अनुकरण नहीं होता। अर्थात् अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से भाषा में शब्द नहीं बनते। यास्क का अपना मत था कि काक आदि पथियों के नाम उनकी बोली के अनुकरण से ही भाषा में बनते हैं। पाणिनि ने अव्यक्र ध्वनि में अनुकरण का नियम स्वीकार किया है।

उपसर्ग-

यास्क ने लिखा है कि शकटायन उपसर्गों को अर्थ का द्योतक मानते थे और गार्ग्य वाचक पाणिनि ने दोनों मतों को आंशिक रूप से लिया है। अधि और परिउपसर्ग को उन्होंने कुछ प्रयोगों में अनर्थक कहा है। जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है इसका यह तात्पर्य हुआ कि अन्य उपसर्ग अर्थ के वाचक होते हैं।

धातु का अर्थ और क्रिया का भाव-

धातु का अर्थ क्रिया है, या भाव इस विषय पर भी वैय्याकरणों में मतभेद था, क्योंकि इसका प्रभाव शब्द नित्यत्व के सिद्धान्त पर पड़ता है। पतञ्जलि का कहना है कि पाणिनि ने "भूवादयोधातवः" सूत्र में दोनों अर्थों को मानता है।

शब्द नित्यत्व-

शब्द नित्यत्व का सिद्धान्त व्याकरण दर्शन की मूल भित्ति है। कात्यायन ने नैत्यशव्दिक और कार्य शव्दिक इन दो सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। ऋक् प्रतिशाख्य में यह विचार है, जिससे इस विवाद की प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने औदुम्बरायण के मत का उल्लेख किया है-

"इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।"
{निरुक्त- 1/1/2}

आचार्य औदुम्बरायण का मत है कि शब्द का उच्चारण जितने देर मुख में रहता है, वही उसकी नित्यता है, उसके बाद वह विनष्ट हो जाता है। पतञ्जलि ने लिखा है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों शब्द नित्यता पक्ष के मानने वाले थ। फिर भी लोप और आगमन आदि व्याकरण की प्रक्रिया में वे कोई बाधा नहीं देखते। पाणिनि ने "अर्दशनं लोपः" यह परिभाषा स्थिति की तद्नुसार पतञ्जलि ने लोप का अर्थ अन्तर्धान या अदृश्य हो जाना लिखा है। इसके विरुद्ध तैतरीय प्रातिशाख्य में लोप को विनाश कहा गया है-

"विनाशो लोपः।" जो शब्द की अनित्यता पक्ष का सूचक है। पाणिनि ने जिसे आदेश कहा है, उसे ही पहले विकार कहा जाता था।

ऊपर के उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि दो विवादास्पद मतों में शतपथ समन्वय और सन्तुलन का मार्ग निर्धारित किया गया है। इस दृष्टिकोण की तुलना बुद्ध के मज्झिम पटिपदा वाले दृष्टिकोण से की है। यही उस काल की प्रमुख विशेषताएँ थीं।

अध्याय - चतुर्थ

धार्मिक एवं दार्शनिक व्यवस्था

धार्मिक दशा

शतपथ ब्राह्मण में जिन धार्मिक अवस्था का वर्णन है, उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देवपूजा थी। यज्ञ ऋत्विज, दक्षिणा एवं देवता और उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है।

प्रथम परिच्छेद

देवता

शतपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित वैदिक देवताओं का वर्णन मिलता है। जिसका उल्लेख इस प्रकार है-

अग्नि, इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, वृषाकपि, पूषा, अर्यमा, त्वष्टा, सूर्य, वायु, महेन्द्र, अपांनतृप्त, सोम, नासत्य आदि। इस विषय में प्राचीन काल में दो मत थे। आचार्य और्णवाभ का मत था -

“सत्यौ एव नासत्यादित्यौर्णवाभः।”

दूसरा मत यह था कि नासा से उत्पन्न होने के कारण वे नासत्य कहलाए-

“नासिका प्रभवौ बभूवतु रितिवां।”
{निरुक्ति}

महाभारत में यही दूसरा मत है। नासत्य और अश्विनी कुमार सूर्य की पत्नी संज्ञा की नासा से उत्पन्न हुए। प्रजापति देवता को क कहा गया है। पतञ्जलि ने लिखा है कि क सर्वनाम नहीं, किन्तु देवता की संज्ञा है।

“संज्ञा चैषा तत्र भवतः।”

अतएव चतुर्थी में कस्मै न होकर काय रूप बनता है। वास्तोष्पति और गृहमेध देवताओं का उल्लेख है। वास्तोष्पति तो ऋग्वेद कालीन देवता था किन्तु गृहमध गृह्यसूत्रों के समय से नया देवता माना जाने लगा।

गृहमध है देवता जिसका ऐसे पुरोडाश, हवि या कर्म को गृहमधीय-गृहमेध्य कहते थे। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार पूर्व दिशा का देवता इन्द्र और उत्तर पूर्व या ईशान कोण का महेन्द्र कहलाता था। अपाम्नप्त् अग्नि का नाम था, जिसे देवता मानकर विशेष हवि अर्पित की जाती थी।

कुछ देवता जुड़वा या इन्द्र देवताओं के नाम भी हैं, जैसे- आग्नीसोम, आग्नीवरुण, द्यावापृथिवी, शुनासीर, सोमरुद्र, इन्द्रपूषा, शुक्रामन्थी ग्रहों के जोड़े को भी देवता-द्वन्द प्रकरण में रखा गया है। वेद में साहचर्य प्रसिद्ध था और जिनकी लोक में भी एक साथ मान्यता थीं। विशुद्ध लौकिक देवताओं का ग्रहण वहाँ नहीं किया गया, किन्तु वैदिक देवताओं के ही नमूने पर लोक में भी नए-नए देवताओं के जोड़े अस्तित्व में आ रहे थे, जिनकी एक साथ पूजा की जाती थी, जैसे ब्रह्मप्रजापति, शिववैश्रवणौ, संकर्षणवासुदेवौ, इस प्रकार जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, उन्हें अभिव्यक्ति कहा गया है। द्वन्द शब्द से उनका भी ग्रहण होता था। गृह्यसूत्र युग में नए लोक विख्यात देवता माने जाने लगे थे। प्राचीन देवियों में इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, वृषाकपायी, पृथिवी और उषस् का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि उषा देवता के निए भी सास्य देवता प्रकरण में पृथक हवि के द्वारा पूजा की प्रथा उस समय तक वच रही थीं।

उत्तर कालीन देवता-

पार्वती या अम्बिका के चार रूपों का उल्लेख है- भवानी, शर्वाणी, रूद्राणी, मृणानी विशेषतः उस युग में इनकी मान्यता थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र, शर्व और भव अग्नि के रूप हैं, जिनमें से सर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश में लोक प्रिय था।

"शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः।"
{शत0ब्रा0 1/7/3/8}

संभव है कि भवानी और शर्वाणी नाम भी इसी प्रकार देश भेद से प्रचलित हों, ऐसे रुद्राणी और मृणानी थी स्थानीय नाम हो सकते हैं।

वस्तुतः उस काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दों से अभिहित नए देवताओं की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। उस समय कालवाची शब्दों को देवता माना गया है, जैसे वह सीली पाक हवि जिसका मास देवता हो मासिक कहलाती थी।

"मासो देवताऽस्य मासिकम् हविः।"

ऐसे ही अर्धमास देवता की हविः आर्धमासिक संवत्सर सावत्सरिक वसन्त ऋतु की वासन्तिक और प्रावृष ऋतु की प्रावृषेण्य कही जाती थी। इस प्रकार मास, तु, संवत्सर, सभी को देवताओं का नया पद प्राप्त हुआ और लोक में उनकी पूजा वेग से चली। देवच्व प्रदान की यह नूतन पद्धति यहाँ तक बढ़ी कि जितने नक्षत्र थे, वे भी देवता मान लिए गये। प्रौष्ठपद नक्षत्र को स्पष्ट देवता कहा गया है। प्रोष्ठपद देवता के उद्देश्य से समर्पित हवि प्रोष्ठपदिक कहलाती थी। नक्षत्रों के देवता मान लिए जाने का महत्वपूर्ण परिणाम मनुष्य नामों पर पड़ा, जिनका विवरण विस्तार से दिया गया है। इन नक्षत्रों के जो अधिष्ठाह देवता थे, उनकी कृपा से पुत्रजन्म या उनका कल्याण चाहने वाले माता-पिता अपनी सन्तान का नाम उन नक्षत्रों के नाम से रखते थे और उनके लिए समय-समय पर स्थालीपाक या हवि अर्पित करते थे। पुष्यदत्त, स्वातिदत्त, तिष्यरक्षित आदि नाम इसी प्रकार के है।

भक्ति-

छेवताओं के विषय में ऊपर लिखा हुआ दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। वह प्रधान दृष्किोण था। वरुणदत्त, आर्यमदत्त जैसे नाम आए हैं, सूचित करते हैं कि वरुण और अर्यमा देवताओं को भक्ति से प्रसन्न करके माता-पिता उनकी कृपा से पुत्र लाभ में विश्वास करते थे। शतपथ में इस प्रकार की लोक भावना मिलती है कि नामों के अन्त में दत्त उत्तरपद देवता के आर्शीवाद का सूचक समझा जाता था। मनुष्य का नाम उस आर्शीवाद का जीता जागता प्रतीक होता था।

वैदिक काल में भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञों में जो पुराने काल की आस्था थी, उसके साथ-साथ एक प्रतिद्वन्दी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेषा देवताओं की भक्ति या विस्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का आवश्यक फल कई प्रकार से देखने को आया। एक तो लोकधर्म में जो सैकड़ो प्रकार के छोटे मोटे देवता थे उन सब की पद प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके लिये त्रैवणिक समाज में द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लो में चली आती थीं, उसे सार्वजनिक रूप से मान्यता मिल गई। उच्च्व वर्णो के घरों में भी इन देवताओं का निर्वाध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और उन्हें प्रसन्न करने की जो यज्ञ पद्धति थी, नया भक्ति धर्म कन्धे से कन्धा मिलाकर सामने आया और सचमुच उसने समाज में सर्वत्र अपनी

धाक जमा ली। इस प्रकार वैदिक देवता और यज्ञ पिछड़ गए। वैदिक युग के कुछ वर्ष बाद अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है-

"अमिसा देवा मिसा कटा" (अमिश्राः देवाः मिश्रा कृत) अर्थात् जो देवता पहले अलग थे वे अब वैदिक देवताओं के साथ बौद्ध धर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा पद्धति के साथ घुल मिलकर एक हो गए हैं।

भक्ति धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढंग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमें फल, फूल, नैबेद्य, धूप, दीपपत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत, बलि, आदि की प्रथा न थी। किन्तु लोक में यज्ञ आदि देवों की जो पूजा थी उसका स्वरूप ठीक इन्हीं वस्तुओं से निर्मित होता था। जिसे गीता में-

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं"

वाली पूजा कहा है। नए भक्ति धर्म का वह आवश्यक अंग बन गई। जो देवताओं की भक्ति करते हुए इसी प्रकार की पूजा चढ़ाते थे।

भक्ति धर्म का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रुप में पूजित हुए। एक ओर बौद्ध और जैनों ने बुद्ध और महाबीर को भक्ति धर्म की पूजा विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उनके लिए स्तूप आदि चिन्हों की कल्पना करके धर्म का वाह्य रुप खड़ा किया। उसने जन साधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया। दूसरी ओर हिन्दू समाज पर इसका गहरा प्रभाव हुआ। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति या आर्दश नये रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महाबीर जैसे क्षत्रिय पुरुष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष विशेष थे। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्रकृति देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गये थे।

{वायु पुराण- 97/1}

वासुदेव की भक्ति करने वाले वासुदेवक कहलाते थे। इस नए धर्म के देवताओं की एक विशेषता यह भी थी कि मूल देवता या मान्य महापुरुष का स्वरुप अपने साथ परिवार का पंचायत लेकर विकसित हो रहा था। जैसे बौद्ध धर्म में सप्तमानुषी बुद्धों की कल्पना थी, जैन धर्म में पंचमुख्य तीर्थकरों की कल्पान थी, यक्षों मे वीर या मुख्य यक्षों की उपासना थी, वैसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई। भागवतों ने इसके दो विकल्प रखे। एक तो कृष्ण के साथ उनके राजसी जीवन के अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी। वासुदेव के भक्त जैसे वासुदेवक कहलाते थे, वैसे ही अर्जुन के भक्त अर्जुनक कहलाते थे। वासुदेव और अर्जुन के इस धार्मिक साहचर्य का ही दूसरा रुप नर-नारायण की सहयुक्त पूजा थी, जिसमें नारायण प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्मः कहा गया। महाभारत शान्ति पर्व में नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। धार्मिक

इतिहास की दृष्टि से उसका आरम्भ इसी युग में हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ और यह कहा गया कि वस्तुतः एक ही शक्ति नर और नारायण इन दो रूपों में अभिव्यक्त होती है।

"नारायण· नरश्चैव सत्वमेकं द्विधाकृतम्।"

{उद्योग पर्व- 43/20}

वासुदेव कृष्ण की परिवार कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक लोक व्यापी एवं स्थायी हुआ। वह चतुर्ब्यूह या पंचरात्र कल्पना थी। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और संकर्षण इन दोनों का जुड़वा रूप लोक में प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार के जुड़वा देवताओं की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और संकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त था। सहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओं के विषय में भी था, जैसे इन्द्रासोमौ, इन्द्रवृहस्पति आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म प्रजापति, शिव वैश्रवणौ इत्यादि। नर-नारायण का भाँति संकर्षण और वासुदेव नए भक्ति धर्म का मुख्य सूत्र बन गया, इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पंचवृष्णि वीरों की कल्पना पूर्ण हुई, जो पंचरात्र धर्म की सुनिपपन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण था।

शतपथ काल में कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्यानों ने स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने संज्ञा चैषा तत्र भवतः लिखकर वासुदेव को विष्णु का स्वरूप माना। कैयट ने उसे परमात्मा देवता विशेष कहा है। पतञ्जलि के समय से पूर्व कृष्ण की जीवन लीलाओं का विकास हो चुका था, जैसे उन्होंने लिखा है-

"जघान कंसं किल वासुदेवः।"

या विष्णु के विषय में लोक प्रचलित आख्यानों के सम्बन्ध में पतञ्जलि का कथन है-

"कंस बधमाचष्टे कंसं घातयति बलिबंधमाचष्टे बलिं बान्धयति।"

पतञ्जलि ने यह भी लिखा है कि ये दोनो आख्यान उन घटनाओं के सम्बन्ध में थे, जो बहुत पहले घटित हो चुकी थी। किन्तु अभिनेता प्रत्यक्ष रूप में उन लीलाओं को प्रदर्शित कर दिखाते थे।

"इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति, बलिं, बन्धयतीति, चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथं। ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयंतीति। चित्रेषु कथम्। चित्रेष्वपि उद्‌गूर्णा निपतातिश्च प्रहारा दृष्यन्ते कंस

कर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथम् यत्र शव्दगडुमात्रं लक्ष्यते। तेऽपि नोपामुत्पन्ति प्रभृत्याविनाशाद [illegible] सतो बुद्धि विषयान् प्रकाशयन्ति। अतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृष्यन्ते। केंचित कंसभक्ता भवन्ति, केंचिद् वासुदेव भक्ताः। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केंचित रक्त मुखा भवन्ति, केंचित काल मुखाः।।"

{भाष्य- 3/1/26}

कोई कंस के भक्त बनते और कोई वासुदेव के। भाष्य से तो यही ज्ञात होता है, कि कंस बध के चित्र भी उस समय बनाये जाते थे और लोग कृष्ण का आख्यान भी गाकर सुनाते थे। भाष्य में कृष्ण के चतुर्व्यूह का भी स्पष्ट उल्लेख है-

"जनार्दनस्त्वातम् चतुर्थ एवं।"

{भाष्य- 6/3/5}

संकर्षण और कृष्ण इन दोनों की संयुक्त सेना और उनके प्रासाद या मन्दिरों का भी उल्लेख आया है। राम-केशव, कृष्ण-संकर्षण, वासुदेव-संकर्षण, ये सब वासुदेव मूलक भक्ति प्रधान धर्म के सुविदित उदाहरण हैं। "भगवती-भागवतम्" भाषा का एक रोचक प्रयोग आया है। यह एक गृहस्थ परिवार में भागवत धर्म की अनुयायिनी गृहपत्नी और भागवत गृहपति का संकेत करता है। नगरी चित्तौड़ के पास प्राचीन मध्यमिका में दूसरी शती ई0पू0 की नारायण वाटिका के अवशेष पाये गये हैं। जिसके शिलालेख में संकर्षण वासुदेव को सर्वेश्वर अर्थात अन्य सब देवों से ऊपर कहा गया है, ये मौर्य शुंग युग के प्रमाण हैं। किन्तु इस बात की पर्याप्त सूचना देते हैं कि मौर्य काल से सौ दो सौ वर्ष पूर्व ही भागवत धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व में आ चुका था जिसने भारत के धार्मिक रंग मंच पर महत्व पूर्ण पट परिवर्तन किया।

पश्चिमी विद्वान भी इस उल्लेख को भागवत धर्म की प्रचीनता में प्रमाण मानते हैं। कीथ ने पतञ्जलि के "संज्ञा चैषा तत्रभवतः" कथन को यथार्थ मानते हुए लिखा है कि निश्चय की शतपथ काल में वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। वलिवध और कंसवध सम्बन्धी भाष्य के अवतरण के आधार पर वेबर ने भी कृष्ण वासुदेव की प्राचीनता और उनके विष्णु के अवतार होने की लोक मान्यता को स्वीकार किया था।

महाराज-

यह शब्द प्राचीन भारतीय लोक धर्म का एक महत्वपूर्ण अध्याय दृष्टि पथ में ले आता है। प्राचीन काल में महाराज को देवता कहा जाता था। महाराज देवता की भक्ति का भी उल्लेख आया है। महाराज देवता के भक्त महाराजिक कहलाते थे। पतञ्जलि ने महाराज देवता को अर्पित की जाने वाली बलि को महाराज बलि कहा है। महाराज देवता की वैश्रवण या कुबेर की संज्ञा थी। अति प्राचीन काल में राजा का एक अर्थ यक्ष था।

महाभारत में राजा शब्द के यक्ष अर्थ का वहुत ही सटीक उदाहरण इस श्लोक में है-

"आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यवध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी।।"
{शान्ति पर्व मोक्षधर्म- 171/52}

यह महाभारत के अति क्लिष्टि श्लोकों में है। यहाँ ब्रह्म और राजा दोनों शव्दों का अर्थ यक्ष है। रामायण में भी व्रह्म शब्द यक्ष अर्थ में आया है।

"ब्रह्मदत्तवरो ह्येष अवध्य कव चावृतः।"
{लंका- 71/97}

अर्थात् जैसे यक्ष अपनी मृत्यु रहित यक्षपुरी में पहुँचकर प्रसन्न होता है, वैसे ही मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार और शरीर (आत्मा) इन सातों को भारी शत्रु के समान वश में करके सुखी होऊँ।

यक्षों के राजा होने के कारण कुबेर महाराज कहलाए। इन्हे ही कालिदास ने मेघदूत में महाराज कहा है।

"तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधान हे तो रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।"

{1/3}

पालि साहित्य में कुबेर आदि चार देवताओं को चत्वारों, महाराजानों कहा जाता है, जो चातुम्महाराजिक लोक में निवास करते हैं। यक्ष, गन्धर्व, कुंभाण्ड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे, जिनकी व्यापक मान्यता थी। इन चारों के अधिपति क्रमशः कुबेर, घृतराष्ट, विरूढ़क और विरूपाक्ष ये चार देवता महाराज नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। दीघ निकाय के आटानाटीयसुत्त में चारों महाराज देवताओं को एक-एक देवगण की सूची में प्रमुख स्थान दिया गया है। उसी ग्रन्थ के वछसुत्त में चत्वारों महाराज और चातुम्महाराजिक देवों में भेद किया है और पहले को दूसरे से श्रेष्ठ माना है। गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्रवण की पूजा का उल्लेख आता है। प्रायः प्रत्येक गृह्य होम या हवि के अन्त में वैश्रवण की स्तुति का मन्त्र निगद या उच्च घोष से पढ़ा जाता था जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षों का अधिपति कहा गया है।

"राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमोवयं वैश्रवणाय कुर्महे।

समे कामान् कामकामाय मह्य कामेश्वरो वै वैश्रवणो दधातु।।"

प्रतिकृति-

मूर्तियों को जिनमे देवमूर्तियां भी सम्मिलित है प्रतिकृति कहा गया है। इसी अर्थ में अर्चा इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है। मूर्ति रखने वाला पुजारी अर्चावान् या अर्च कहलाता था।

"देव मूर्ति के लिए अर्चा शव्द का प्रयोग मथुरा से प्राप्त मोरा कूप अभिलेख में एवं कालान्तर के शिल्प साहित्य में मिलता है।"

{भाष्य}

कुछ मूर्तियां ऐसी हैं जो सार्वजनिक रूप में प्रासाद में अथवा खुले चत्वारों पर स्थापित होती थीं। उन पर एक व्यक्ति का स्वत्व न था। अतएव वे किसी की जीविका का साधन न थीं, और न विक्री के लिए पण्य रूप में थीं। वे केवल पूजार्थ होती थीं। उन्हे शिव कहते थे या शिवक यह अनुमान का विषय है। किन्तु सम्भावना यही है और उन्हें शिव स्कन्द इत्यादि नामें ये कहा जाता था।

दूसरे प्रकार की मूर्तियॉ देवलक या पुजारियों के अधिकार में होती थीं। या तो वे एक स्थान में पधराई रहती या देवलक उन्हें स्थान-स्थान -पर ले जाकर जीविका के लिए पूजा चढ़वाते थे। ऐसी चल और अचल मूर्तियां पूजार्थ और देवलकों के जीविकार्थ होती थीं किन्तु विक्री के लिए न होने से अपण्य थीं।

तीसरे प्रकार की मूर्तियॉ वे थी जो दुकानों में विक्री के लिए रखी जाती थीं। वे पूजार्थ नहीं थीं, यद्यपि अपने स्वामी दुकानदारों के लिए जीविका का साधन अवश्य थीं। ऐसी पण्य मूर्तियां शतपथ काल के उदाहरण हैं। उन्हें शिवक, स्कन्दक आदि कहा जाता था।

चौथी प्रकार की मूर्तियों के लिए पतञ्जलि ने एक नई समस्या खड़ी कर दी। उन मूर्तियों का नामकरण आप कैसे करेंगे जिन्हें मौर्य राजाओं ने रूपयों के लोभ से बनवाया था, जो बिकती भी थी, जो पूजा के लिए भी थी, और जीविका का साधन भी थीं।

"अपण्यं इत्युच्यते तत्रेदं न सिद्धति "शिवः" "स्कंदः" इति कि कारणम्। मौयर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात् यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।"

{भाष्य- 5/3/99}

मौर्यों ने कुछ सचमुच ऐसी मूर्तियाँ गढ़वाई थीं। जिनसे वे पैसा बटोरना चाहते थे। कौटिल्य से इस बात का समर्थन होता है। वहाँ लिखा है- "देवताध्यक्ष को चाहिए कि देव मूर्तियों के जरिये सोना बटोरे और खजाना भरे।"

"आजीवेत हिरण्योपहारेण कोशंकुर्यात।"

देवताओं के चैत्यों में उत्यव और मेले करावे और नागमूर्तियां अपने फनों की संख्या घटा-बढ़ा लेती हैं, इस प्रकार चमत्कार की बात फेलाकर भोली-भाली जनता मे पुजवा कर पैसा इकट्ठा करें। इससे सूचित होता है कि इस प्रकार की मूर्तियां जीविका, पण्य और पूजा तीनों बातों के लिए थीं। प्रश्न यह है उठाया गया कि इनमें उनका नाम शिव रखा जाय या शिवक।

अन्त में पतञ्जलि का कहना है कि मौर्य राजाओं की उन मूर्तियों की बात जो पण्य और जीविका दोनों के लिए छोड़ दें, पर इस समय जो मूर्तियां पूजा में पधराई हुई हैं और जिनसे देवलकों की जीविका चलती है। अर्थशास्त्र में भी मूर्तिपूजा के प्रमाण मिलते हैं। उस समय शिव और वैश्रवण आदि देव मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित थीं। पतञ्जलि ने कहा है कि वेद में इनका साथ निर्देश न था, लोक में ही इनके जुड़वां नामों की प्रथा पड़ी-

"न चैते वेदे सहनिर्वाय निर्दिष्टाः।"
{भाष्य- 6/3/26}

लोक में यक्ष, नाग और ऐसे ही छोटे देवताओं की जो पूजा थी, उन्हीं के दो प्रधान देवता शिव और वैश्रवण थे। कुबेर की संज्ञा वैश्रवण या महाराज भी थी जो उत्तर दिशा में यक्ष या यक्खों के राजा माने जाते थे।

असुर-

"शतपथ काल में देवों के बैरी असुरों का भी कुछ नाम है, जैसे- दैत्यों की माता दिति, सर्पों की माता कद्रू, असुर, राक्षस और यातु। आसुरी माया शब्द प्राचीन था जिसका प्रयोग असुर विद्या के लिए होता था।"

{शत0- 13/4/3/11}

कुसित की स्त्री कुसितायी एक राक्षसी थी जिसका उल्लेख मैत्रायणी संहिता में आया है। राहु और चन्द्रमा की कथा का उल्लेख विधुन्तुत शब्द में है।

यक्ष–

शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पाँचो का उल्लेख शतपथ मे है। ये पाँचों यक्षों के नाम थे। लोक में यक्ष पूजा का वहुत अधिक प्रचार हुआ था। चरण परिषद में विराजमान आचार्य की तुलना यक्ष के प्रियदर्शन के रूप में की गयी है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं को भी यक्ष रूप में मानकर उनकी पूजा होने लगी थी। दीघ निकाय में वरुण, इन्द्र, सोम प्रजापति को यक्खों में प्रधान कहा गया है। "आटानार्टीय सुत्त" महामासूरी सूची में तो विष्णु कार्तिकेय, शंकर, मकरध्वज, कामदेव, वज्रपाणि, इन्द्र या शक्र इन सबको यक्ष माना गया है। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी में यक्ष को महाकाय, तालमसुच्छित, ज्चलनार्क, प्रतीकाश, अदृश्य और पर्वतोपम् कहा गया है। विशाल भी एक वड़े यक्ष का नाम था। धार्मिक जगत में फेले हुए यक्ष पूजा के ताने वाने में से कुछ आधुनिक सामग्री में आ जाना आश्चर्य प्रद नहीं है।

द्वितीय परिच्छेद

यज्ञ

यज्ञ का स्वरूप

यजुर्वेद 1/1। की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण 1/7/1/5। मे कहा गया है कि-

"यज्ञों वै श्रेष्ठ तमं कर्म।"
शoपoब्राo- 1/7/1/5

अर्थात् समस्त कर्मों में से यज्ञ कर्म श्रेष्ठ कर्म है। ऐसा ही काठक संहिता 30/10। में लिखा है। ब्राह्मण तो यज्ञ की इतनी महिमा समझते हैं कि वह ब्रह्म को भी यज्ञ स्वरूप ही बताते हैं। जगत में जो कुछ भी प्रत्यक्ष रूप दिखाई दे रहा है, वही प्रजापति है। शतपथ मे कहा गया है-

"एषं वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजा पतिः।"
शo ब्राo- 4/3/4/3

अर्थात् यह प्रजापति ही है जो प्रत्यक्ष यज्ञ है। संसार में जड़ जगत मे जो यज्ञ हो रहा है, सूर्य उसका केन्द्र है। शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-

"स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः।"
शoपoब्राo-14/1/1/6

अर्थात् यह जो यज्ञ है यही सूर्य है। इसी महायज्ञ का चित्त मनुष्य इस पृथ्वी पर बनाता है। पृथ्वी पर वेदी ही यज्ञ का केन्द्र स्थान है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है-

"तं यज्ञं यवेश्द्यामन्वविदन् यद्वेद्यामन्वविन्दंस्तद्वेदेर्वे दित्वम्।"
ऐoब्राo 3/9।।

अर्थात् उस यज्ञ को वेदि में प्राप्त किया। क्योंकि वेदि में प्राप्त किया, अतः यही वेदि का वेदिपन है। ऐसा ही अन्य ब्राह्मणों में भी लिखा है। यह वेदि बड़ी छोटी होती

है पर इसमें किये गये कर्म का प्रभाव अद्भुत है। यहीं वेदि को कई स्थानों में वामन विष्णु कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण 1/2/5/5। से आरम्भ करके सातवीं कण्डिका तक इसी वामन विष्णु रूपी वेदि का वर्णन है। इसी से देवताओं ने इस विशाल पृथ्वी को ही प्राप्त किया। नहीं, नहीं पृथ्वी को ही नहीं। देवताओं का क्या कहना, मनुष्य भी इस वेदि से तीनों लोको पर राज्य कर सकते हैं।

ऋग्वेद 1/22। का प्रसिद्ध मन्त्र है-

"इदं विष्णुर्विचक्रमें त्रेधा निदधे पदम्।" 17।।

इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मपरक भी है और सूर्य परक भी है। पर इसका एक और अद्भुत अर्थ भी है-

अर्थात् इस वामन विष्णु वेदि में किया हुआ अग्नि होत्रादि कर्म तीनों लोको में अपना प्रभाव रखता है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में कहा गया है।

"अग्निर्वे देवनामवमों विष्णुः परमः।"
ऐ0ब्रा0 1।1।

अर्थात् अग्नि देवताओं में प्रथम है और सूर्य अन्तिम। इस का अभिप्राय यह है कि वेदि में जो अग्नि होती है उसी में पहले हवि दी जाती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी गया है-

"अग्निर्वे देवतानां मुखम्।"
श0प0ब्रा0- 2/5/1/8

अर्थात् यह जड़ अग्नि ही सारे भौतिक देवताओं का मुख है। इसी में डाला हुआ हवि वायु के सहारे सूर्य की ओर अर्थात् ऊपर को जाता है। ऊपर जाकर वह सारे अन्तरिक्ष में फैल जाता है। उसी अन्तरिक्ष में सूर्य के प्रभाव से मेघ मंडल के साथ वह हवि नीचे उतरता है और सब देवताओं को तृप्त करता जाता है। इसलिए हमने कहा था कि इस वेदि से मनुष्य तीनों लोकों को जीतता है। यज्ञ द्वारा पृथ्वी के पदार्थ शुद्ध होते हैं, अन्तरिक्ष के पदार्थ शुद्ध होते हैं और सूर्य की राशियाँ पवित्र होती हैं। यह हम सहसा नहीं बता सकते। ब्राह्मणों का गहरा पाठ ही इस बात को स्पष्ट करेगा। यज्ञ इन पदार्थों को ही शुद्ध नहीं करता, प्रत्युत इन पदार्थों को शुद्ध करता हुआ मनुष्य मात्र का कल्याण करता है। इसीलिए ब्राह्मण में कहा गया है-

"कल्पते यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कलमते यत्रैवं विद्वान होता भवति।"

ऐ0 ब्रा0- 1/7।।

अर्थात् यज्ञ को भी समर्थ करता है, उसी जनता के लिए समर्थ करता है जहां पर इस प्रकार का जानने वाला होता है।

इस यज्ञ के अनेक प्रकार कहे गये हैं। अग्नि होत्र से लेकर अश्वमेघ तक यज्ञ कहे गये हैं। इन सब में ही एक बात का प्रधान रूप से ध्यान रखा गया है। जो कुछ सृष्टि में हो रहा है, वही यज्ञ में किया जाता है। इसके दो लाभ हैं। एक तो याज्ञिक को सृष्टि नियम का ज्ञान प्रत्यक्ष समान होता जाता है। दूसरे सृष्टि नियम को यह यज्ञ सहायता पहुँचाता है। सूर्य अपने बल से इस संसार की दुर्गन्ध को दूर करता है और जल को पवित्र करता है। मनुष्य का किया हुआ अग्नि होत्र भी यही दोनों काम करता है। संवत्सर में 360 दिन हैं। मनुष्य में 360 अस्थियां हैं। शतपथ ब्राह्मण 12/3/2/3 में मानव अस्थियों के विषय में विशेष विवरण दिया गया है।

360 ही ईंटे अग्नि चयन में चिनी जाती हैं। सृष्टि नियम का यही ज्ञान है। सृष्टि के नियम को यही सहायता पहुँचाता है। इसी के फल से पुरुष अनेक पापों से तर जाता है।

{पं0 भगवदत्त के वैदिक वाङ्मय का इति0 से}

यज्ञों के मुख्य भेद-

गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि यज्ञ की इक्कीस संस्थाएँ हैं-

(1) "स एतं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेक विंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत्।"

गो0पू0- 1/12।।

अर्थात् त्रिवृन्त, सात तन्तु वाला और इक्कीस संस्था युक्त है। इसे उसने देखा।

(2) "सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तर्थकावंशतिः।"

गो0 प0- 5/25।।

अर्थात् सात सोम संस्था, सात पाक यज्ञ और सात हविर्यज्ञ हैं। यही सब मिलाकर इक्कीस संस्था का यज्ञ है।

इन इक्कीस में से सात संस्था गृह्यागिन की है, और शेष चौदह श्रौताग्नि की, उनका वर्णन इस प्रकार है-

गृहाग्नि की संस्था-

(1) पाक संस्था

(1) अष्टका
(2) पार्वण स्थाली पाक
(3) मासिक श्राद्ध
(4) पिण्ड पितृ श्रावणी
(5) आग्रहायणी
(6) चैत्री
(7) आश्वयुजी

(2) हविर्यज्ञ या हविः संस्था-

(1) अग्न्याधान
(2) अग्निहोत्र
(3) दशपूर्णमास
(4) चातुर्मास्या
(5) आग्रयणेष्टि
(6) निरूढ़ पशुबन्ध
(7) सौत्रामणि।

(3) सोम संस्था-

(1) अग्निष्टोम
(2) अत्यग्निष्टोम
(3) उक्थ्य
(4) षोड़शी
(5) अतिरात्र
(6) अत्पोर्याम्
(7) वाजपेय।

वैशानसागृह्य सूत्र 1/1/1।। तथा शतपथ ब्राह्मण में भी एक स्थान पर कुछ यज्ञों के नाम एक साथ मिलते हैं-

"अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुबन्धं सौम्यमृध्वरम।"

श0प0ब्रा0- 10/4/3/4।।

यही इक्कीस संस्था रूपी यज्ञ है और भी अनेक छोटे बड़े यज्ञ हैं, पर वे सब ही इन का भाग मात्र हैं। एक अन्य स्थान पर गोपथ ब्राह्मण में इन यज्ञों का वर्णन किया गया है। यथा-

" अथातो यज्ञक्रमा अग्न्य[illegible]ः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद्दर्शपूमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यमाग्रय[illegible] चातुर्मास्येभ्यः पशुवन्धः पशुवन्धादग्निष्येमो ऽग्न्ष्टिोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वजयेयो वाजपेयाद्श्वमेधोऽश्वमेधात् पुरुपमेधः पुरुषमेधात्सर्वमेधः सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावदभ्यो ऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्टंस्ते वा एते यज्ञ क्रमाः।"

{गो0प0ब्रा0 5/7।।}

अर्थात अब यज्ञ का क्रम कहा जाता है।

(1) अग्न्याधेय
(2) पूर्णाहुति
(3) अग्नि होत्र
(4) दर्शपूर्णमास
(5) आग्रयण
(6) चातुर्मास्य
(7) पशुबन्ध
(8) अग्निष्टोम
(9) राजसूय
(10) वाजपेय
(11) अश्वमेध
(12) पुरुषमेध
(13) सर्वमेध। आदि

इनके अतिरिक्त कुछ और यज्ञ कहे गये हैं।

याज्ञिक-

यज्ञों का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगों के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है। पतञ्जलि ने भी याज्ञिक शास्त्र और याज्ञिकों में वाङ्मय का उल्लेख किया।

शतपथ में यज्ञ सम्वन्धी साहित्य और यज्ञ कर्म की पर्याप्त सामग्री पायी जाती है। याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल व्राह्मण और अनुव्राह्मण साहित्य था। दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एवं दूसरे यज्ञ या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ भी वनाए गये थे। जिनके ये उदाहरण मिलते हैं, अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक, नावयज्ञिक, पाकयज्ञिक आदि। पुराडाश किस प्रकार वनाया जाय इसकी विधि वताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ पुरोडाशिक था।

"पुराडाश तैयार करने की विधि के अंग इस प्रकार हैं- व्रीहीन निर्वपति (यजु0अध्याय-1, मंत्र-9) प्रोक्षति (मंत्र-12), अवहन्ति (मं0-14), परापुनाति (मन्त्र-16), तंडुलान् पिनष्टि (मंत्र-20), प्रणीताभिः संयौति (मंत्र-21), और कपालेषु श्रपयति (मंत्र-22)। इन्हीं प्रक्रियाओं की व्याख्या पुराडाशिक ग्रन्थ में की जाती थी, जैसी शतपथ के आरम्भ में है।"

पुरोडाश बनाने में जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती थी उनका व्याख्यान ग्रन्थ पौरोडाशिक कहा जाता था। ये मत्र यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में हैं और शतपथ प्रथम काण्ड में उनकी व्याख्या है। यज्ञों के सम्मिलित होने वाले ऋत्विजों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी सारोद्धारिणी पद्धतियों की मांग रहती थी।

यजमान-

जव तक यज्ञ की अवधि रहती है तब तक के लिए मुख्य कर्ता की संज्ञा यजमान होती थी। यज्ञ का समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा कहलाता था। विशिष्ट यज्ञों के आधार पर उसके लिए अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे। जो व्यक्ति बार-बार यज्ञ करता है और जिसका स्वभाव ही यजनशील बन जाता था, उसके लिए भाषा में यायजूक शब्द था। यज्ञ काल में यजमान वाक् संयम का व्रत रखने के कारण वाचंमय एवं स्थांडिल पर शयन करने के कारण स्थाण्डिल कहलाता था। यजमान का अन्तेवासी या पुत्र जब यज्ञ कर्म करने के योग्य वय प्राप्त करता हो तो वह अलंकर्मीण कहलाता था। उस समय वह अपने पिता या गुरु के समीप बैठ कर आहुति डालने में उसकी सहायता करता था।

"यदस्य पुत्रो अन्तेवासी वालंकर्मीणः स्यात्सदक्षिणत आसीनो जुहुर्यादिति।"
{बौधायन श्रौत सूत्र- 22/20}

अलं कर्म में कर्म शब्द का सामयिक अर्थ यज्ञ था।
{यजुर्वेद- 1/1, शतपथ- 1/1/2/1, यज्ञोवैकर्म}

आस्पद-

ब्राह्मणों में सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी। यज्ञों के आधार पर आस्पदों की प्रसिद्धि होती थी, जैसे- वाजपेयी, अग्निहोत्री आदि। जो श्रौताग्नियों का अध्ययन करके उनकी परिचर्या करता था, उसे आहिताग्नि कहते थे। आवसथ अग्नि के लिए निर्मित स्थान में निवास करने वाले व्यक्ति आवसथिक कहलाता था। ब्राह्मणों की अवस्थी आस्पद इसी से बना है। यज्ञ भूमि में यजमान के लिए जो स्थान बनाया जाता था वह आवसथ कहलाता था क्योंकि आवसथ अग्नि की सीपना वहीं की जाती थी। यज्ञ के दिनों में यजमान को वही रहना आवश्यक था। इसे ही अग्नि शरण भी कहते थे।

यज्ञनाम-

यज्ञ शब्द की व्यत्पत्ति यज् धातु से की जाती थीं। यजुर्वेद में यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ तीन प्रकार के थे- इष्टि, पशुबंध और सोम। इष्टि जैसे दर्शपौर्णमास में स्वाहा कह कर और बैठ कर आहुति दी जाती है। पशुबन्ध और सामे यज्ञों में आहुति खड़े होकर और वौषट् बोलक डाली जाती थी।

"उपविष्टहोमाः स्वाहाकार प्रदानाः जुहोतयः। तिष्ठ द्धोमाः वषट्कार प्रदानाः याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः।"

यज्ञ का एक व्यापक शब्द । उसके अर्न्तगत दर्शपौर्णमास जैसी इष्टियां पाक यज्ञ और नवयज्ञ जैसे साधारण होम, पंचौदन और सप्तोदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक एवं अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय जैसे क्रतु भी आये थे। किन्तु क्रतु शब्द केवल सोम यज्ञों के लिए प्रयुक्त होता था। क्रतुओं में सोम की आहुति दी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है, जैसे विश्वसृज जो सहस्र सम्वत्सर सत्र था। पतञ्जलि ने लिखा है कि ऐसे दीर्घकालीन सत्र लोक में वस्तुतः करता न था। "लोक अप्रयुक्ताः" केवल याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय में विदित थे।

"दीर्घ सत्राणि वार्षशतिकाणि वार्ष सहस्रिकाणि च न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति केवल मृषि सम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रोणानुविद धते, भाष्य पस्पशाह्निक।"

सोम-

सोम का अभिषण सुत्या कहलाता था। अभिषव करने वाले को सोमसुत कहते थे। जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद्ध से प्रसिद्ध होता था, जैसे यज्ञकर्ता के लिए यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक

सुविधा और आध्यात्मिक तैयारी पर निर्भर था। जिसमें सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता या अर्हता हो वह सोम्य कहलाता था। याज्ञिक लोग कहते थे कि जिसके कुल मे दस पीढ़ी पहले तक आचार कोई आँच न आयी हो वह सोमपान अधिकारी होता है-

"एवं कि याज्ञिकाः पठन्ति दश पुरुषानूकंयस्य गृहेशूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेदिति।"
{भाष्य- 4/1/93}

मनु का दृष्टिकोण आर्थिक योग्यता से है- जिसके घर तीन वर्ष या उससे अधिक के लिए पर्याप्त अन्न हो वह सोम पीने की योग्यता रखता है।

"यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्योत य सोमं पातुमर्हति।।"
{मनु0- 11/7}

सोमपान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को पर्याप्त संभार कर रखना चाहिए अन्यथा उसका परिश्रम असफल रह जाता है। सोम यज्ञ में यद्यपि ऋत्विक् सोम कूटने, पीसने-छानने की क्रिया करता पर यजमान सुन्वन् कहलाता था। बारह दिन या उससे अधिक के सोम यत्र ऋत्विजों की संख्या सत्रह से पच्चीस तक होती थी।

"सप्त दशावराः पंचविंशतिपरमाः।"

उनमें सभी यजमान होते थे, सभी ऋत्विज भी थे-

"सर्वेयजमानाः सर्वेऋत्विजः।"

सबका आहिताग्नि होना आवश्यक था, सब को यज्ञ के पुण्य फल में समान भाग प्राप्त होता था, कोई न कोई दक्षिणा देता था और न पाने की आशा करता था, एवं सभी मिलकर सोम का सेवन करते थे।

अग्नि-

जो अग्नि आहुति को देवों के समीप ले जाता है उसकी संज्ञा हव्यवाहन और जो पितरों पास के ले जाता है उसकी संज्ञा कव्यवाहन थी। हव्यवाहन अग्नि को स्वाहा और कव्यवाहन अग्नि को स्वधा कहकर आहुति दी जाती है। श्रौत यज्ञों के लिए उपयुक्त अग्नि चित्याग्निक कहलाती थी। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था क्योंकि उसे गार्हपत्य अग्नि में से लाते थे, और कर्म हो जाने के बाद फिर उसकी रक्षा या आधान नहीं किया जाता था। श्रौत यज्ञ की अग्नि अरणी मन्थन से उत्पन्न की जाती थी। उत्पन्न होनेः

पर उसे आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी में गार्हपत्य अग्नि के रूप में सुरक्षित रखता था। दो वेदियाँ और थीं, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। यजमान अपनी गार्हपत्य वेदि में से अग्नि ले जाकर उन दोनों वेदियों में डालता था, इसीलिए दोनों उस काल विशेष के लिए की पृथक प्रज्वलित होने के कारण अनित्य कहलाती थीं। जैसे ही आहुतियां समाप्त हो जातीं, वे दोनों पवित्र अग्नियां न रह जातीं थीं, किन्तु गार्हपत्य सदा रक्षा के योग्य थीं।

वेदियाँ-

वेदि में अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओं के लिए तीन शब्द थे- परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य। आरम्भ में समिधाओं को विधि पूर्वक चुनकर और वेदि को सजाकर जो अग्नि जलाई जाती थी वह परिचाय्य अवस्था हुई।

"परिचाय्यं चिन्वीत ग्राम कामः।"
{शतपथ- 5/4/11/1}

यह उसकी अलंकरण की दशा थी। बीच में जव वह खूव दहक जाती तो उसे उपचाय्य कहते थे। अन्त में उसे इधर-उधर विखरी अवस्था में बटोकर राख कचरा आदि का ढेर लगा देना यह उसकी समूह्य अवस्था थी। इसी के लिए समूह्य पुरीष यह सार्थक शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था।

{शतपथ- 6/7/2/8}

दशपौर्णमास की वेदि 36 वितस्ति लम्बी और 18 वितस्ति चौड़ी कही गयी है। (27 फुट*13½ फुट) इससे दुगुनी नाप की वेदि द्विस्तावा और तिगुनी नाप की त्रिस्तावा कहलाती थी। वेदि की इस भूमि पर भिन्न-भिन्न वेदियाँ या हवन कुण्ड वनाए जाते थे। प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। वेदियों के निर्माण में जिन-जिन मंत्रो से इष्टकाचिति की जाती थी, उन मंत्रों से उन इष्टिकाओं का नाम पड़ जाता था। मंत्र में जो महत्वपूर्ण शब्द होता उसे उप्रतीक मानकर इष्ट का नाम रखा जाता था। जैसे- वर्चस्या, तेजस्या, रेतस्या, पयस्या ये इष्टकाओं के प्राचीन नाम थे।

यज्ञार्थ उपकरण-

इनमें से कुछ का प्रासंगिक उल्लेख शतपथ में आया है। सोम क्रतुओं में जिस स्थान पर बैठ कर छन्द योग या सामगान करने वाले ऋत्विज् सामगान करते थे, वह स्थान संस्ताव कहा गया है। अमरकोश में इसे स्थिति भूमि लिखा है। कूड़ा कचरा फेंकने का स्थान अवस्कर कहलाता था। सोमयाग में सोमनामक ओषधि की आवश्यकता पड़ती थी। पतञ्जलि ने प्रतीक या कुशा को सोम का प्रतिनिध लिखा है, साथ की कहा है कि इससे यह न समझना चाहिये कि सोम गई बीती वस्तु हो गई है-

"न च तत्र सोमो भूत पूर्वो भवति।"
{भाष्य- 1/1/56}

यज्ञपात्र-

सोम पीने के पात्र या सोम ग्रहों का जोड़ा रखा जाता था। आहुनि द्रव्य हवि थी, उसी का एक विशेष रूप सांनाय्य कहलाता था। यह दर्शनामक इष्टि में इन्द्र देवना के उद्देश्य से दी जाने वाली हवि थी। इष्टि से पहली सायंकाल का जो गाय का दूध दुहा जाता था (सायंदोह) उसका दही जमा लिया जाता था। अगले दिन उस दही में प्रातः का दुहा हुआ दूध (प्रातर्दोह) मिलाकर सानांय्य हवि वनती थी।

"दर्श इष्टि में तीन आहुतियाँ होती हैं, पहली अग्नि के लिए आग्नेय पुरोडाश की दूसरी, इन्द्र के लिए ऐन्द्र दधि और तीसरी इन्द्र के लिए ऐन्द्र पय या दूध की आहुति। दूसरी और तीसरी को साथ मिलाने से सांनाय्य हवि वनती थी। इसमें उद्दिष्ट देवता तो एक था, पर भिन्न आहुति द्रव्यों को एक में मिलाकर साथ ही हवि दी जाती थी। पहले जुहू में दही भर कर उसके ऊपर दूध छोड़ने से सांनाय्य हवि बनती थी।"

ऋत्विक्-

यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्वज् कहे जाते थे। कर्मों के कराने में दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे। पतञ्जलि ने "आर्त्विजीनं ब्राह्मण कुलम्" लिखा है। स्पष्ट है कि शतपथ काल से ही ब्राह्मण लोग बड़े परिश्रम से ऋत्विक् कर्म में निपुणता उपार्जित करते आये थे। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों में प्रयुक्त वेद मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे। आत्विजीन वह माना जाता था जो यज्ञों के मंत्रों का पद स्वर और अक्षर के अनुसार शुद्ध फुट का उच्चारण कर सके।

"यो वा इमां पदशः स्वरशो वाचंविदधाति स आर्त्विजनः।"
{पास्पशाह्निक भाष्य}

यजमान के लिए विविध प्रकार के यज्ञ कर्म करने के कारण ऋत्विज को याजक कहा जाता था। जिस जाति का यजमान को उसके साथ याजक् शब्द जोड़कर शब्द बनते थे। जैसे- ब्राह्मण याजक, क्षत्रिय याजक्।

विशेषज्ञ-

जो जिस यज्ञ या विधि मे विशेष निपुणता प्राप्त करता था, उसे उसी के लिए आमन्त्रित करते थे। जो सोम क्रतुओं का विशेष अध्ययन करते वे आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक आदि कहलाते थे। स्वाभाविक था कि इतने बड़े यज्ञों का दायित्व लेने के इन विशेषज्ञों को ही आमंत्रित किया जाता। वे अपने पुत्र और शिष्य वर्ग के साथ इन यज्ञों में सम्मिलित होते थे।

ऋत्विक् संख्या-

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनसुार ऋत्विजों की संख्या सोलह थीं। उनके चार वर्ग थे, जो इस प्रकार हैं-

(1) ऋग्वेद - होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्।
(2) यजुर्वेद - अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।
(3) सामवेद - उद्गाता, प्रस्तेता, प्रतिहर्त्ता, सुवह्मण्य।
(4) अथर्ववेद - ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीघ्र, पोता।

यज्ञ में अध्वर्यु का पद महत्वपूर्ण था। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहा जाता था। जैसे-जैसे यज्ञों के कर्मकाण्ड की अभिवृद्धि हुई अध्वर्यु ऋत्विजों के भेद बढ़ने लगे। इसमें दो हेतु थे। एक तो देश भेद से अध्वर्युओं की ख्याति हुई जैसे प्राच्याध्वर्यु अर्थात् प्राच्यदेश का अध्वर्यु। दूसरा महत्वपूर्ण कारण वैदिक शाखाओं के भेद से कर्मकाण्ड में भेद पड़ जाना था। इसके प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में भरे पड़े हैं।

मंत्र करण-

यज्ञ में देवताओं के आवाहन के लिए निश्चित मंत्रो का पढ़ना मंत्रकरण कहलाता था। उसके लिए भाषा में विशेष प्रयोग ही चल गए थे। जैसे-

"आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते"

आग्नेयी ऋचा के पाठ से आग्नीध्र ऋत्विज् का उपस्थान करता है।

"एन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते"

ऐन्द्री ऋचा के पाठ से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है। मंत्रों का स्फुट स्वर वर्ण के साथ उच्चारण समुच्चारण कहा जाता था।

याज्या मंत्र-

यज्ञ कर्म में याज्या ऋचाओं का पाठ विशेष महत्व रखता है। सब याज्या मंत्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। जब-जब अध्वर्यु आहुतियां आरम्भ करता है तभी उस कर्म के साथ होता याज्या और पुरोऽनुवाक्या मंत्रो का पाठ करता है। अध्वर्यु स्वयं मंत्रों का पाठ नहीं करता मंत्र पढ़ना होता का कर्म है। अध्वर्यु होता को प्रेरित करता है, उस प्रेरणा को प्रैष कहते हैं। उस प्रैष को सुनते ही होता मंत्र पढ़ता है और अन्त में वौषट् का उच्चारण करता है। मंत्र सुनते ही अध्वर्यु 'स्वाहा' बोलकर अग्नि में आहुति छोड़ देता है।

"[illegible] अग्निमिधो ग्रावग्रामउत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणाआ पृणध्वम्।।"
{ऋ0 1/162/5}

आवाहन-

दश-पौर्णमासेष्टि में पॉच आहुतियॉ दी जाती हैं। जिन्हे पंच प्रयाज कहते थे। शतपथ के अनुसार समिध् प्रयाज आदि पॉच प्रयाज् इस प्रकार हैं-

(1) समिधो यजति
(2) तनूनपातं यजति
(3) बर्हिर्यजति
(4) इड़ो यजति
(5) स्वाहाकारं यजति।

{श0ब्रा0- 1/5/3/1-13, जहां इनकी तुलना पंच ऋतुओं से की गई है।}

पंच आज्याहुतियों से सम्पन्न होने के कारण शान्ति पर्व में यज्ञ को "दशार्धहविराकृतिम्" कहा गया है।

{शान्ति पर्व- 47/27}

इसके बाद की तीन गौड़ आहुति अनुयाज कहलाती थीं। अनुयाज तीन हैं-

"त्रयोऽनुयाजाश्चत्वारो पत्नी संयाजाः।"
{शतपथ- 11/4/1/11}

काशिका में भ्रमवश अनुयाज पॉच और पत्नी संयाज आठ लिखे हैं। दर्शपौर्णमास की दृष्टि में तीन अनुयाजों के बाद यजमान पत्नी और चार पत्नी संयाज

आहुति देती हैं। बौधायन श्रौत आठ पत्नी संयाजों का भी उल्लेख है। पशुबन्ध यज्ञ में प्रयाज और अनुयाजों की प्रत्येक संख्या ग्यारह है।

उपयज्-

यजुर्वेद में ग्यारह छोटे मंत्र भाग हैं- समुंद्र गच्छ, स्वाहा इत्यादि उन्हें उपयज् कहा जाता है।

सामिधेनी-

ऋग्वेद में ग्यारह ऋचाएँ हैं जिनका अग्नि प्रज्वलित करने में उपयोग होता है। उनकी संज्ञा सामिधेनी थी, जिसका उल्लेख शतपथ में किया गया है। कभी-कभी बाहर से और ऋचा लाकर इसमें जोड़ते हैं, जैसे कहा है कि दृढ़ स्थिति की कामना करने वाले यजमान के लिए इक्कीस सामिधेनी का पाठ करे-

"एकविंशतिमनुब्रूयात प्रतिष्ठाकामस्य।"

दक्षिणा-

यज्ञ कर्म करने वाले ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती थी उसके विभाग के विषय में कुछ निम्न धर्मशास्त्र ग्रन्थों में दिये गये हैं। जिस यज्ञ की दक्षिणा होती थी उसी के नाम से दक्षिणा का नाम पड़ता था। जैसे- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम यज्ञों की दक्षिणा राजसूयिकी, वाजपेयिकी, अग्निष्टोमिकी कहलाती थी। ज्ञात होता है कि प्रत्येक की न्यूनतम मात्रा लोक व्यवहार में निर्धारित थी। जो ब्राह्मण योग्यता के कारण दक्षिणा का पात्र होता था वह दक्षिण्य कहलाता था।

तृतीय परिच्छेद

भिक्षु

ब्राह्मण ग्रन्थ के भिक्षु और नास्तिक धर्मों के भिक्षु दोनों का परिचय शतपथ में दिया गया है। जिनके अध्ययन की परम्परा भिक्षुओं के प्राचीन आश्रमों में या सम्प्रदाय में थी, और दूसरी ओर मस्करी परिब्राजक का भी उल्लेख है जो सम्भवतः मक्खनि गोसाल की ओर संकेत करते हैं। तापस, तपस्वी तप करने वाले भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था। शमी, दनी, योगी, विवेकी, त्यागी से सभी धार्मिक साधना के सूचक शब्द थे। शरीर और मन के संयम करने वाले दान्त और शान्त कहलाते थे।

भिक्षुओं की वृत्तियॉं-

अपनी भिक्षा वृत्ति में जो सब का अन्न स्वीकार कर ले वह सर्वान्नीन भिक्षु कहलाता था। इससे सूचित होता है कि कुछ लोग भिक्षुक बनकर भी जाति-पॉंति का विचार बनाए रखते थे। कुछ भिक्षु उच्छ वृत्ति से निर्वाह करते थे। ऐसे भिक्षु कुछ काल के लिए अन्न का संग्रह रख लेते थे। मनु ने लिखा है कि वसन्त और शरद में जो दो फसलें होती हैं, उनमें मुनि अपना अन्न संग्रह करके रख लेता है। शरद् ऋतु में पुराने अन्न की जगह नया अन्न संग्रह रखा जाता था। भिक्षु को चाहिए कि वह आश्वयुज मास में अपने वस्त्र और अन्न दोनों को नया कर ले। ये ही नये कहलाते थे।

नैकटिक वह भिक्षु था जो वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर लेता था किन्तु गॉंव बस्ती के निकट ही निवास करता रहता था। इसकी ध्वनि यह है कि वह अरण्यवास नहीं करता था। यों तो मुनि के लिए अरण्यवास करना आवश्यक था। उत्तराध्ययन सूत्र में अरण्यवास मुनि का वाहरी लक्षण कहा गया है।

"न पि मुण्डिएण समणो आंकारेण न बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसवीरेण च तापसो।।"
{उत्तरा0- 25/31}

महाभारत में भी इसका समर्थन होता है-

"मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।"
{उद्योग पर्व- 43/35}

कपटी भिक्षु-

कपटी भिक्षु दाण्डाजिनिक कहलाता था, जो दिखावे के लिए दण्ड और अजिन धारण करता हो। एक प्रकार के कपटी भिक्षु आयः शूलिक कहे जाते थे। अर्थात् जो 'अयःशूल' उपाय से अपना काम चलावे। पतञ्जलि ने इस प्रकार लिखा है- यदि अयः शूल का शाब्दिक अर्थ लोहे का शूल लिया तो आयः शूलिक शिव भागवत भिक्षुओं के लिए भी प्रयुक्त होने लगेगा जो लोहे का त्रिशूल रखते हैं।

मस्करी-

मस्करी शब्द परिब्राजक के लिए आया है। मस्करी का अर्थ मक्खलि गोसाल से है, जिन्होनें आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। पतञ्जलि ने यही स्पष्ट अर्थ लिया है- "मस्करी वह साधु नहीं है जो हाथ में मस्कर या बॉस की लाठी लेकर चलता हो। फिर क्या है- मस्करी वह साधु कै जो उपदेश देता है कि कर्म मत करो शान्ति का मार्ग ही श्रेयकर है-

"न वै मस्करोऽस्यातीति मस्करी परिब्राजकः किं तर्हि। माकृत कर्माणि माकृत कर्माणिशान्तिर्वः श्रेयसीत्याह्यतो मस्करी परिब्राजकः।"

{भाष्य- 6/1/154}

यह निश्चित रूप से मक्खलि गोसाल के कर्मापवाद सिद्धान्त का उल्लेख है। वे कर्म या पुरुषार्थ की निन्दा करके नियति या भाग्य को ही सब कुछ मानते थे।

श्रमणा-

श्रौत सूत्रों में श्रमण का प्रयोग भिक्षु मात्र के हैं। बौधायन में मुनि को श्रमण कहा है, और लिखा है कि सरस्वती नदी में घुटने भर पानी में खड़ा होकर अग्नि के लिए पुरोडाश अर्पित करे। पतञ्जलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उल्टा माना है और दोनों में कभी न मिटने वाला बैर बताया है।

"येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण ब्राह्मणम्।"

{भाष्य- 2/4/9}

चीवर-

भिक्षु का वेश चीवर था। चीवर धारण करने वाला भिक्षु बन जाता है। बौद्ध साहित्य में चीवर केवल भिक्षुओं के लिए आता है।

अर्हत-

प्रशंसा योग्य पुरुष के लिए अर्हत शब्द सिद्ध किया गया है। अर्हत की अवस्था को आर्हन्त्य कहते थे।

यायावर-

वौधायन धर्म सूत्र ये ज्ञात होता है कि यायावर वे भिक्षु थे जो उत्तम-जीविका से निर्वाह करते हुए शाला या घरों में रहते थे। जब यात्रा में होते हैं तब भी यायावर लोग रूक कर अग्नि होत्र करते थे।

"तत्रो दाहरन्ति यायावरा ह वै नामर्षय आसंस्तेऽध्वन्यश्राम्यंस्ते मजुह्वुः।"
{बौ0 श्रौ0- 24/31}

वे अपने को तपस्वी और ऋषि मानते थे। सम्भवतः यही वैखानस भिक्षु थे जो पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम में रहते थे।

चतुर्थ परिच्छेद

धार्मिक विश्वास और आचार

धार्मिक जीवन में चन्द्रायण आदि व्रतों का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन में चन्द्रायण व्रत किया हो वह चन्द्रायाणिक नाम से प्रसिद्ध होता था। ऐसे ही मंत्र जप को अपना स्वभाव बना लेता वह जंजपूक कहलाता था। कभी-कभी दिखावे के लिए विप्रदुष्ट भाव से भी ऐसा किया जाता था। जो व्यक्ति स्थंडिल पर शयन करने का व्रत ले वह स्थंडिल कहलाता था। पारायण करते समय अथवा यज्ञ के समय बेदि के स्थंडिल पर ऐसा व्रत किया जाता था। उस अवसर पर मौन व्रत का भी आश्रय लेते थे, अथवा मंत्र या जप के समय अन्य शब्दों का उच्चारण न करते थे। गृहस्थों के आचार में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार की बलि देने की प्रथा आरम्भ हो गयी थी। कुबेर को दी हुई बलि कुबेर बलि और चार महाराज देवताओं की बलि महाराज बलि कही जाती थी। वैदिक स्थालीपाक रूप हवि और लौकिक वलि इन दोनों के सम्मिलित से गृहस्थ धर्म में देवताओं के उत्सव के लिए किसी दिन पूड़ी पकवान और कड़ाही आदि करने का रिवाज चल पड़ा था। पीछे यह स्मार्त धर्म का प्रिय लोकाचार वन गया।

श्राद्ध-

काब्यवाहन अग्नि में पितरों के लिए अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरों को देवता कहा गया है। 'सास्य देवता' मान कर उन्हें जो हवि दी जाती है उसे पित्र्य हवि कहते थे। आश्विन कृष्ण पक्ष को पितृ पक्ष या शरद ऋतु में महालय श्राद्ध को शारदिक श्राद्ध कहते थे। श्राद्ध में भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाता था। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्ध भोजन किया हो उसी दिन के लिए यह विशेषण था-

"समान काल ग्रहणम्।"

आज खाया हो तो कल उसी व्यक्ति को श्राद्धी नहीं कहा जाता।

"अद्य भुक्तं श्राद्धेश्वः श्राद्धिक इति माभूत्"
{भाष्य}

श्राद्ध भोजी ब्राह्मण को उसी दिन अपराह्न या रात्रि में कुछ जप आदि के द्वारा आत्म संस्कार विहित था। गुरुकुल का जो ब्रह्मचारी श्राद्धिक होता वह उस दिन अनध्याय रखकर जप करने के कारण उसी दिन के लिए विशेष शब्द से अभिहित होता था।

धार्मिक कृत्यों में मुण्डन की प्रथा थी। मुण्डन कराने वाला मद्रकर या मद्रंकार कहलाता था।

लोक विश्वास-

ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन में लोगों का विश्वास था, जैसे देवदत्ताय ईक्षते, अर्थात् ज्योतिषी देवदत्त की कुण्डली का फल विचार रहा है। ऐसे ही शरीर के चिन्हों से फल विचार भी माना जाता था। यह अंग विद्या का विषय था जिसका छान्दोग्य उपनिषद और ब्रह्मजाल सुत्त में उल्लेख है। उन्हें पुष्याह या पुष्यरात्र कहते थे। सुकर्म से पुण्य फल मिलता है, इस प्रकार का विश्वास और तद्नुसार क्रिया की भी प्रथा थी। अच्छे-बुरे कर्मों को करने वालों के लिए भाषा में विशेष शब्द चले गये थे जैसे पुण्यकृत, सुकर्मकृत, पापकृत। उसे प्रकट करने के लिए भाषा में इस प्रकार प्रयोग होता था।

"स्वयं ह रथेन याति उपाध्यायं पदातिं गमयाति।"

अर्थात् ह आपभात रखता है, गुरु को सत्तू खिलाता है।

भ्रूण हत्या और ब्रह्म हत्या आदि जैसे महापातको का भी उल्लेख है।

नैतिक गुण-

उपनिषद् युग में तपः श्रद्धा जैसे महान् गुणों के अनुसार संयम प्रधान जीवन व्यतीत करने का आदर्श सुपूजित हो चुका था, जैसे- "तपः श्रद्धे ये उपवसन्त्यरण्ये।" वेदमंत्र में भी इस प्रकार के भाव हैं।

"व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धयां सत्यमाप्यते।।"
{अथर्ववेद}

अथवा

"सत्यं बृहदृत मुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवांधारयन्ति।"
{अथर्व0- 12/1/1}

प्रज्ञा, श्रद्धा, तप, त्याग, विवके, धर्म, शम, दम ये जीवन के प्रकृष्ट गुण थे, उन्हें धारण करने वाले व्यक्तियों के लिए विशिष्ट शब्द भाषा में चले गये थे। जैसे-

प्राज्ञ-प्रज्ञावान, श्राद्ध-श्रद्धावान, तपस्वी, त्यागी, विवेकी, योगी, शर्मी, दर्मी, धर्मी आदि। इस जीवन और परलोक के लिए पुण्य कर्मों का विधान करने वालो के लिए दो विशिष्ट शब्द इर्ष्टी, पूर्ती प्रयुक्त होने लगे थे। ऐसे कार्यो में धन लगाना उपयोग कहलाता था। जैसे- "सहस्रं प्रकुरुते, सहस्रं विनयते।"

धर्म-

जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे। शुल्कशाला में जो चुंगी लगती थी उसे भी धर्म्य कहा गया है। क्योंकि इस प्रकार के बंधन पीढ़ी दर पीढ़ी के रिवाज से लोक में चले आते थे।

धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिए है, जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है। जैसे-

"धर्म चरति धार्मिकः।"

दार्शनिक दशा

ज्ञान का नया आदर्श-

लगभग दसवीं शती ई0 पूर्व से पॉचवीं शती ई0 पू0 तक महाजनपद युग भारतवर्ष में अभूत पूर्व ज्ञान मन्थन का काल था। इसी समय कितने ही शास्त्रों की नई उद्भावना हुई। यही आद्य आचिख्यासा अर्थात् प्रतिभाशाली मस्तिष्कों से ज्ञान का स्वतंत्र उद्भव था। इसी समय व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रों का जन्म हुआ। जिसके अर्न्तगत शाकटायन, यास्क, औदव्रजि, अपिशलि, औटुम्बरायण, शाकल्य, वैशम्पायन आदि आचार्यों ने विद्या के क्षेत्र में महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किये। श्लोकों के निर्माण का भी बहुत कार्य हुआ। महाभारत का विपुल अंश इसी युग का है। काव्य विज्ञान, नाट्य आदि के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस समय हुआ वह दर्शन के क्षेत्र में था।

थ्वभिन्न तत्व ज्ञानियों ने जगत्, जीव ईश्वर के विषय में मनुष्य के जीवन, उसके कर्तव्य, नीतिधर्म एवं सामाजिक समस्याओं एवं दुःख-सुख के महती समस्या के विषय में मौलिक चिन्तन किया। यह सब उथल पुथल बहुत ही कल्याण प्रद हुई। भारतीय ज्ञानाकाश में मानो ज्ञान के एक नए अधि देवता का जन्म हो गया।

ज्ञ-देवता-

ज्ञ-देवता का उल्लेख उपनिषदों से आरम्भ होता है-

"ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।"

{श्वेता0उ0- 6/2}

"यह ज्ञ शतपथ काल की परिभाषा में क्षेत्रज्ञ पुरुष की संज्ञा थी। जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है। वही यह देखने वालना ज्ञाता या उपयोग करने वाला है। और इसे ही सांख्य शास्त्र में "पुरुष" या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं।"

{लोक मान्य तिलक-गीता रहस्य- 162 पृ0}

इस क्षेत्रज्ञ पुरुष या ज्ञ पुरुष की खोज की उपनिषद युग का सर्वोपरि आदर्श था। ज्ञ देवता को काल-काल क्यों कहा गया, इसका कारण यह था कि ज्ञान साधन के क्षेत्र में उस समय अनेक मत वाद थे। जिनकी सूची श्वेता0 उप0 में है, जैसे- कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, आत्मवाद आदि। इन वादों का दार्शनिक संग्रह महाभारत के दार्शनिक संग्रह महाभारत के शान्ति पर्व में पाया जाता है, जो शतपथ युग के तत्व विचार का एक सारभूत संग्रह बच गया है। इन वादों में पहला कालवाद है। कुछ लो काल को सर्व शक्तिशाली देव मान कर उसे ही सृष्टि का पर्याप्त कारण मानते थे। किन्तु क्षेत्रज्ञ वादी लोगों का कहना था कि क्षेत्रज्ञ पुरुष काल आदि अन्य कारणों का भी कारण है। जिन व्यक्तियों ने तत्व दर्शन के इस आन्दोलन में विशेष भाग लिया वे भी ज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। यूनान देश में लगभग समकालीन तत्व ज्ञान के क्षेत्र में जो अग्रणी थे वे सोफिस्ट कहलाते थे। वैसे ही इस देश में 'ज्ञ' थे। पतञ्जलि ने 'ज्ञ' नामक ब्राह्मणों का उल्लेख किया है, जो 'ज्ञ' देवता या तत्व ज्ञान के आन्दोलन के प्रतिनिधि थे। आगे चलकर उनके परिवार में उपनिषद युग की ये परम्परायें प्रतिपालित हुई हों, ऐसा मानना स्वाभाविक है। पतञ्जलि ने उनका उल्लेख किया है। ये ही परिवार उस समय तक 'ज्ञ' देवता के लिए स्थाली पाक बनाकर उसकी पूजा करते थे। इस औपचारिक पूजा में ज्ञन के अधिदेवता का वह मौलिक स्वरूप जो उपनिषद और शान्तिपर्व के युग में था कितना सुरक्षित था, नहीं कहा जा सकता।

शतपथ काल में दार्शनिक या तत्व चिन्तकों के विचार के लिए बौद्ध जैन साहित्य में दिट्ठि शब्द मिलता है। इसके मूल में वही दृश् धातु है जिससे दर्शन शब्द बनता है।

उस युग में बौद्धिक मंथन ने अनेक संख्यक मत को जन्म दिया था। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में जैन आगमों में एवं महाभारत के शान्ति पर्व में इनका विस्तृत वर्णन आता है। मतियों की सूची श्वेताकार उपनिषद में दी गयी है- कालवाद,

स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद शतपथ काल को सृष्टि कारण मानकर व्याख्या करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। अथर्ववेद के काल सूक्त में उसके सिद्धान्त हैं। महापरियाय जातक कालवाद का निरुपण है। शान्ति पर्व में उसका और विशद रूप है। नक्षत्र और ऋतु भी देवता माने जाने लगे। कालवादी दार्शनिकों को ही अहोरात्रिविद कहते थे।

इसके बाद स्वभाव को सृष्टि का कारण मानते वाले थे। इसके समकक्ष पूरण कस्सप का प्रक्रियावाद का सिद्धान्त था। इसे ही शाश्वत वाद भी कहते थे। सब कुछ अपने स्वभाव से सदा से ऐसे ही हो रहा है, कोई न करने वाला है, न कारण है, ईश्वर की कहीं आवश्यकता या अवसर नहीं है। यदृच्दावाद के मानने वाले अहेतुवादी दार्शनिक थे। बिना किसी हेतु के आकस्मिक संयोग से यह जगत बन गया है। भूतवाद के प्रतिनिधि लोकायत दर्शन के अनुयायी थे, जो पृथिवीं, जल, तेज, वायु इन चारों भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। नियतिवाद के प्रवर्तक आचार्य मक्खल गोसाल थे। योनिवाद उस मत की संज्ञा थी जिसमें जन्म को ही सब कुछ माना जाता था। ब्राह्मण कुल में या क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से ही मानव के जीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है। यही इनका मत था। बल से ही व्यक्ति और समाज का नियमन और संचालन होता है। इनका यही दृष्टिकोण था। अन्त में पुरुष या देव की शक्ति को सृष्टि का कारण मानने वाले थे जिन्हें जातकों में इस्सर कारण वादी कहा गया है।

श्वेताश्वर उपनिषद में पुरुषवाद के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों को परिमुह्यमान् अर्थात् भ्रान्त मत वाले कहा गया है। पुरुष या ईश्वर को कारण मानने वाले लोग जिनके दर्शन और सम्प्रदाय दोनों अत्यन्त पल्लवित और विस्तृत थे। आस्तिक मतवाले आचार्य हुए। पुरुष सूक्त में इसी मत का विवेचन है।

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वादि मृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यते अयनाय।।"

इस कथन की जो शक्ति है उससे इस दर्शन के आत्म विश्वास और उच्च स्थान का पता चलता है। ईश और अनीश संज्ञक दो सुपर्ण जो एक ही अश्वत्थ वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए है, अथवा क्षर और अक्षर नामक दो पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञं पुरुष जो क्षेत्र का अधिष्ठिाता है- ये सब ऊहापोह पुरुषवाद या आस्तिक मति के ही विविध पक्ष थे। एक मूल विचार धारा कई रूपों में फुटाव ले रही थी। मूलभूत सांख्य के अज और अजा की कल्पना से आरम्भ करके इस दर्शन का पर्यवसान वेदान्त दर्शन में हुआ। पुरुष या अध्यात्मवाद ने और छोटे-छोटे वाद या मतियों को अपने में समेट लिया। प्राणवाद, ज्योतिवाद, व्योमवाद आदि कितनी ही मतियों का समावेश या समन्वय वेदान्त पुरुषवाद में हो गया। पुरुष ही इन सब विविध कारणों का एक मात्र अधिष्ठिाता है। प्रकृति और सृष्टि के

विषय में जो और वहुत से मत उत्पन्न हुए थे वे आस्तिक धारा में मिल गए और भारतीय दर्शन का प्रमुख संस्थान आस्तिक वाद के ही आदर्श में अन्तर्भूत हो गया।

नास्तिक मत के अन्तर्गत एक सम्प्रदाय बहुत तगड़ा था जिसे सब से अलग नाम से पुकारा जाता था। वह मक्खलि गोसाल का नियतिवाद था। वे कर्म और मानुषी पराक्रम का खण्डन या उपहास करते थे। पतञ्जलि ने निश्चित शब्दों में उनके मत का उपन्यास कियाा है-

"माकृतकर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।"

अर्थात् मस्करी परिव्राज का वह नाम इसलिए था क्योंकि वह कहता था- कर्म मत करो, बिल्कुल कर्म मत करो, शान्ति से ही मोक्ष मिलेगा। बौद्ध और जैन साहित्य में मक्खलि के जीवन और मत का विस्तृत उल्लेख है। ये लोग आजीवक कहलाते थे। बुद्ध मक्खलि के मत को सबसे भयंकर मानते थे। महाभारत शान्ति पर्व में इन आचार्यों की पृथक-पृथक मतों का ही विस्तार से वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि नियतिवादी मत के पाँच सिद्धान्त थे- सर्वसाम्य, अनायास, सत्यवाक्य, निर्वेद (कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा), अविवित्सा (आत्मा आदि के विषय में बौद्धिक प्रयत्न का भी परित्याग)। पतञ्जलि ने जो बार-बार "मा कर्म कार्षी" कहा है, उसका लक्ष्य शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मों का निराकरण है। महाभारत में मक्खलि या मंखलि को गंकि के रूप में चिन्हित किया है। कथा है कि मंकि षि पहले पुरुषार्थवादी थे, किन्तु भाग्य उनका साथ न देता था। उन्होंने अन्तिम बार पुरुषार्थ करके सफल होने का दृढ़ संकल्प किया। सब कुछ बेच कर एक जोड़ी बैल खरीदे और उन्हें नाथ कर खेत को चले। मार्ग में एक ऊँट बैठा हुआ था। वह बछड़ों को देखकर भड़क गया, और एकाएक उठ कर भागा। दोनों बछड़े उसकी गर्दन में लटक गये। मंकि ऋषि विलाप करते हुए उसके पीछे भागे। तब उन्होंने अपना अनुभ वाक्य कहा-

"मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम्।।"

ये ही लोग दैष्टिक या भाग्यवादी थे। महाभारत में धृतराष्ट्र और ययाति को नियतिवादी या दैष्टिक मतानुयायी कहा है।

लोकायत-

ये लोग भूतवाद और उच्छेदवाद के मानने वाले थे। इनके दर्शन का लोक में सबसे अधिक प्रचार होने से संभवतः ये लोकायत कहे गये। कौटिल्य ने लोकायतों का उल्लेख किया है। दीघनिकाय में भी उनका नाम है। लोकायत मत का एक पंडित ब्राह्मण

बुद्ध से प्रश्न करता है। अन्यत्र जातक में कहा है- "ने सेवे लोकायतिकम्" काम सूत्र में एक लोकोक्ति है- "वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लोकायतिकाः।"

{काम0- 1/2/30}

खुटके के निष्क से (सोने का सिक्का) वे खुटके का कार्षापण (चाँदी का सिक्का) अच्छा है। इससे लोकायतिकों की प्रत्यक्ष जीवन में आस्था का आभास मिलता है। भागुरि का मत लोकायतों की वानगी है। लोकायत शास्त्र के उद्‌भट पण्डितों की संज्ञा चार्वा थी। दुर्योधन का मित्र एक लोकायतिक था। दशरथ का एक मंत्री जाबालि लोकायत मतानुयायी था। लोकायत संप्रदाय अति प्राचीन था।

योग की शब्दावली में यम, नियम, संयम और योगी एवं न्याय में निग्रह अनुयोग का उल्लेख किया गया है।

शुद्ध दार्शनिक के धरातल पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिखा है कि सर्वचेतनात्त्व के सिद्धान्त से सबको चेतन मानकर चेतन और जड़ का भेद करना अनुचित है। पतञ्जलि ने प्राचीन प्रयोगो की पृष्ठ भूमि में लिखा है कि आत्मा शब्द के दो अर्थ हैं, शरीरात्मा और अन्तरात्मा। शरीरात्मा या शरीर शब्द में प्रवृत्त होता है, पर दुःख सुख का अनुभव करना पड़ता है।

स्थूल शरीर द्वारा दुःख-सुख का अनुभव इन दोनों पक्षों के पीछे जो दार्शनिक मत है उनका अनुसंधान आवश्यक है। न्याय सूत्रों में दुःख को प्रतिकूल वेदनीय और सुख को अनुकूल वेदनीय कहा गया है। इसे हम दार्शनिक पृष्ट भूमि की सूचक कह सकते हैं।

महेन्द्र-

इन्द्र के लिए मरुत्वत, मघवन, वृत्रहन इन प्राचीनों वैदिक नामों के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी आया है। महेन्द्र या महान् इन्द्र की कल्पना का आधार कुछ इस प्रकार है।

"शतपथ ब्राह्मण में कुछ शरीरस्थ पंच प्राणों को समृद्धि और संचालित करने वाले इन्द्र नामक मध्य प्राण की कल्पना की गई है।"

{शतपथ- 6/1/1/2}

यह मध्य प्राण ही इन्द्रियों को प्रेरित करता है। ब्राह्मण और उपनिषदों में इन्द्र और इन्द्रियों के सम्बन्ध में विविध कल्पना पाई जाती है। इसी से पंच इन्द्रियों को इन्द्र

की पाँच शक्तियाँ माना गया और उन पाँच प्राणों को पंचेन्द्र के रूप में कल्पित किया गया। महाभारत में पाँच इन्द्रो का उल्लेख आया है-

"पाण्डोः पुत्राः पंच पंचेन्द्र कल्पाः।"

अर्थात् पाण्डु के पाँच पुत्र पाँच इन्द्रों के समान है।
{उद्योग पर्व-33/103}

पंच प्राणों के अधिपति मुख्य प्राणों को जैसे- मध्य प्राण कहा गया, वैसे ही पाँच इन्द्रों में प्रधान शक्ति को महेन्द्र यह नाम दिया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों की अध्यात्म ऊहापोह में इस प्रकार की विचार सरणि जन्म ले रही थी।

"यास्क ने इन्द्र की पन्द्रह व्युत्पत्तियाँ संगृहीत की हैं जिनका आधार इन्द्र और इन्द्रियों के पारस्परिक सम्वन्ध का विविध दार्शनिक कल्पना या मान्यताएँ थीं।"
{निरुक्त- 10/8}

इन्द्रियाँ इन्द्र के बाह्य लिंग या प्रतीक हैं। मैत्रायणी उपनिषद में यह अर्थ आया है। जब तक इन्द्रियाँ स्व कार्य में प्रवृत्त रहती हैं, इन्द्र का शरीर में निवास सूचिक करता है।

"इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिकरणेनानुमीयते। नाकर्तृकं करणमस्ति।"
{काशिका}

"आरम्भ मे असत् नामक ऋषि थे। वे प्राण थे। अमूर्त प्राण ने शरीर में प्रवेश किया वही इन्द्र है। वह स्वशक्ति से इन्द्रियों को संचालित करता है, जो उसकी आध्यात्म सत्ता के चिन्ह है।"
{शतपथ- 6/1/1/2}

इन्द्रियाँ इन्द्र से दृष्ट हुई हैं अर्थात् इन्द्र ने उनका अनुभव किया यास्क के अनुसार यह आचार्य औपमन्यव का मत था-

"इदम् दर्शनाद् इति औपमन्यवः।"

ऐतरेय आरण्यक में भी सही मत है-

"इदम् आदर्शं तस्मात् इन्द्रो नाम।"
{3/14}

इस शरीर में आते ही इन्द्र ने इन इन्द्रियों को देख लिया अर्थात् उनकी सत्ता का अनुभव कर लिया इसी से वह इन्द्र कहलाया। इदन्द को ही इन्द्र कहा गया। यही परोक्ष शैली है।

"तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्ष प्रिया वै देवाः प्रत्यक्ष द्विषः।"

इन्द्रियों की सृष्टि इन्द्र ने की। यास्क ने इसे आग्रायण का मत कहा है-

"इदं करणादिति आग्रायणः।"
{नि0- 10/8}

ऐतरेय उप0 में इसी मत का उल्लेख है-

"ता एता देवताः सृष्टाः।"
{ऐ0 2/1}

इन्द्र से जुष्ट अर्थात् प्रिय भाव से सह युक्त होने के कारण इन्द्रियों का यह नाम पड़ा। जब इन्द्र इन्द्रियों के साथ रहता है, बहिर्मुख होता है, तब वह सबसे अधिक प्रसन्न रहता है।

"इन्द्र के प्रिय पान सोम का संचय इन्द्रिय रूपी पात्रों में होता है। वहीं से वह इन्द्र को प्राप्त होता है।"

{ऐतरेय ब्रा0- 2/26}

इन्द्रियों का सोम ग्रह कहा गया है। यास्क ने भी लिखा है कि इन्द्र की सबसे अधिक प्रसन्नता सोमपान से होती है। इन्द्र और इन्द्रियों का जो अत्यन्त रमणीय या सुखद सम्बन्ध है उसी का सूचक इन्द्र है।

इन्द्र ने इन्द्रियों को अपने विषय का भोग प्रदान किया है। इसी सम्बन्ध से वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। ऐतरेय उपनिषद में यह कथा है- सब देवता इस पुरुष में प्रविष्ट. हुए। तब उस इन्द्र या आत्मा ने उससे कहा, ' अपने-अपने स्थान में प्रतिष्ठित हैं। यथा नियत स्थानों में बैठे हुए वे देव आज भी अपना-अपना कार्य कर रहे हैं।

इन्द्र की कुल सत्रह व्युत्पत्तियाँ प्राचीन बैदिक साहित्य और निरुक्त में आई हैं।

परलोक-

परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन में तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, इस प्रकार के विश्वास और प्रयत्न की भावना थी। जैसे- "तपः तापसं सेधयति" अर्थात् तप तपस्वी को सिद्ध बनाता है। तपस्वी ज्ञान विशेष की प्राप्ति से जन्मान्तर के विषय में सिद्धि प्राप्त करता है।

"तापसः सिध्यति। ज्ञानविशेपमासादयति। तं तपः प्रयुक्ते। स च ज्ञान विशेष उत्पन्नः परलोके जन्मान्तरे फलमभ्[illegible] परलोक प्रयोजनों भवति।"

{काशिका}

इस प्रकार परलोक या स्वर्ग आदि की सिद्धि को सम्भव माना गया है। उसकी प्राप्ति के लिए इस लोक में जो दान दक्षिणा आदि दी जाती थी वह लिप्स्यमान कहलाती थी। उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति का प्रलोभन यजमान को दिया जाता था। जैसे-

"यो भक्तं ददाति य स्वर्गं गच्छति।"

अर्थात् जो भोजन देगा वही स्वर्ग जायेगा। वेद में स्वर्ग के लिए नाक शब्द का भी प्रयोग है। शतपथ में नाक की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

"न+अक् अर्थात् नहीं है दुःख जहाँ वह नाक है।"
{शतपथ ब्रा0- 8/4/1/24}

उपनिषद युग का मोक्ष के परम् आनन्द के लिए नया शब्द था। काशिका में- निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणोदीपः, निर्वाणो भिक्षुः। इन तीनों में ध्वनि है कि निर्वाण नितान्त अभाव की दशा का नाम था। दीप या अग्नि के समान भिक्षु का अस्तित्व भी बिल्कुल 'बुझ' जाता है वही निर्माण प्राप्ति की अवस्था है। इस शब्द के अर्थ में बौद्ध धर्म की मान्यता अन्तर्निहित है।

अध्याय पंचम

राजनीतिक दशा

परिच्छेद प्रथम

एकराज प्रणाली

राजा-

शतपथ काल में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तंत्र थे। राजा जिस तंत्र मे अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन शासन पद्धतियों का उल्लेख हैं, जैसे- भोज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य आदि उनमें राज्य का भी परिगणन है। एक जनपद की भूमि पृथ्वी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था, इसके विपरीत उससे विस्तृत भू-प्रदेश या समस्त देश के लिए सर्व भूमि शब्द था, जहाँ का अधिपति सार्वभौम कहलाता था। दीघ निकाय के महागोविन्द सुन्त में सर्वभूमि को ही महापृथ्वी कहा गया है। उसमें महापृथ्वी का सीमा विस्तार पूर्व में कलिंग से पश्चिम में सौवीर तक माना है। इससे निश्चित ज्ञात होता है कि महापृथ्वी या सर्वभूमि संज्ञा उस युग में समस्त देश के लिए प्रचलित थी। अपने जनपद के राज्य से आगे बढ़कर जो राजा अनेक जनपदों तक अपने राज्य का विस्तार करता वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था, और सर्वभूमि के अधिकतम क्षेत्र का अधिपत्य प्राप्त करता वह सार्वभौम कहलाता था। आदि पर्व में भरत को सार्वभौम राजा सर्वपृथिवी विजय के अनन्तर अश्वमेध करने का अधिकारी होता था। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची में भी सार्वभौम शब्द आता है।

राजा के लिए ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्द आये हैं। भाष्य में एक उदाहरण है- "अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः।" अर्थात् पंचाल जनपद ब्रह्मदत्त राजा के अधिकार में है, या इसे यों भी कह सकते थे- "अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः।" अर्थात् पंचाल जनपद में ब्रह्मदत्त राजा है।

ईश्वर शब्द के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन साहित्य में प्रायः वह राजा या पृथिवीपति के लिए प्रयुक्त हुआ है भगवन् के लिए नहीं। भाष्य में राजा को ईश्वर का पर्याय कहा है। जिस पुरुष में ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था। ईश्वर या राजा की अधिका शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे। पतञ्जलि ने कहा है कि स्वामी शब्द में ऐश्वर्य का अर्थ उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है। ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य स्वामी आरम्भ में राजा के लिए ही प्रयुक्त होता था।

राजा को भूपति भी कहा जाता था। इस शब्द में भी ऐश्वर्य उसके पतित्व या आधिपत्य की विशेषता थी। अतएव भूपति का अर्थ साधारणतः भूमि का स्वामी ऐसा नही था, अन्यथा वह किसान आदि के लिए भी प्रयुक्त हो जाता। किन्तु पृथ्वी के स्वामित्व की ईश्वरता या ऐश्वर्य जिसमें हो वही भूपति कहलाता था। यह स्थिति राजा की ही थी। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची में आधिपत्य एक प्रकार की शासन प्रणाली की संज्ञा थी। पड़ोसी जनपदों पर उस प्रकार का अधिकार जिसमें वे अधिपति को कर देना स्वीकार करें, आधिपत्य कहलाता था। महाभारत में साम्राज्य को कृत्सनभात् कहा गया है, अर्थात् वह शासन प्रणाली जो औरों के स्वत्व या अधिकारों को छीन कर आत्मसात कर लेती है, एवं साम्राज्य में विलीन होने पर पुनः उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता। महाराजा का दो बार उल्लेख है। महाराज प्राचीन राजनीति का पारिभाषिक शब्द भी था और एक गणराज्य का नाम भी था।

मन्त्री परिषद-

सामाजिक परिषद गोष्ठी या समाज की भाँति मनोरंजन की संस्था थी जिसमें सम्मिलित होने वाले सदस्य पारिषद्य कहलाते थे। राजनीति से सम्बन्धित परिषद वस्तुतः मंत्री परिषद संस्था थी। जो राजा परिषद के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे, उनके लिए "परिषद्वलों राजा" यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था।

बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेख में आता है। महासीलव जातक में राजा के अमात्यों की परिषद् को सुविनीत कहा गया है। सुविनीता शब्द भी राजनीतिक परिभाषा से सम्बन्ध रखता है। विनय से युक्त मन्त्रि परिषद 'विनीत' कहलाती थी। सब मन्त्री अपने कार्य सम्पादन में राजनीतिक अनुशासन से युक्त होते थे। अशोक ने लिखा है कि आवश्यक कार्यों पर विचार करने के लिए परिषद का अधिवेशन तुरन्त बुलाना चाहिए। अर्थशास्त्र में मंत्रि परिषद के संगठ के विषय में पूरा विवरण दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि राजतंत्र में उस समय परिषद का निश्चित स्थान और अधिकार माना जाता था। मन्त्रि परिषद के साथ कार्य करने वाला राजा इस अर्थ के द्योतन करने वाला परिषद्वलों राजा यह सटीक शब्द भाषा में चला गया था।

राजकृत्वा-

वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियों को "राजकृतः" या राजा के बनाने वाला कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में भी यह शब्द मिलता है। दीघ निकाय में मन्त्रियों को राजकर्ता कहा गया है।

"राजकत्तारो, महागोविन्दसुत्तन्त।"

रामायण में भी मंत्रियों को राजकर्त्तारः कहा है।

"समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन।"
{अयोध्या- 69/1}

मुख्यमंत्री या आर्य ब्राह्मण-

आर्य कुमार शब्द युवराज के लिए और आर्य ब्राह्मण मुख्य मंत्री के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कर्मधारय समास में राज ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरुष समास में राज ब्राह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्यमंत्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका उल्लेख शतपथ में आया है। जो राजा ब्राह्मण के साथ सन्धि करता था उसके लिए भाषा में इस सार्थक शब्द का प्रयोग चालू हुआ था। इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न हैं- किस ब्राह्मण के साथ और किस प्रकार की संधि राजा करता था और यह किस युग की प्रथा थी। इन तीनों का उत्तर भारतीय राजतन्त्र के इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार है-

आर्य ब्राह्मण मन्त्रि परिषद या पाली शब्दों में "अमच्च परिसा" में सर्व प्रधान मुख्य अमात्य होता था। आर्य उसकी पदवी या सम्बोधन था। प्रत्येक परिषद्वल राजा का परिषद्वल विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद के मुख्यमंत्री या आर्य ब्राह्मण के साथ अपनी सन्धि का पालन करता था। यह राजतन्त्र में मंत्रि परिषद की बड़ी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मंत्रि परिषद कहने सुनने के लिए या राजा का निरंकुश इच्छा का खिलवाड़ न थी। वह राजा पर सच्चा अंकुश रखती थी और उसको भी अनुचित काम करने से हटा देती थी।

"अशोक और रुद्रदामा की परिषद इसके ऐतिहासिक उदाहरण बचे हैं। प्रियदर्शी अशोक ने राजकोष में से बौद्ध संघ को मात्रा से अधिक धन देना चाहा, तो परिषद ने रोक दिया। महाक्षत्रप् रुद्रदामा ने सुर्दशन तटाक के खण्ड स्फुटित संस्कार के लिए अत्यधिक धन का व्यय करना चाहा। यह व्यय यद्यपि प्रजा हित में था, किन्तु परिषद ने इसे सीमित राजकीय द्रव्य पर बोझा समझा और रोक दिया। तब रुद्रदामा ने अपने निजी कोष में से द्रव्य का विनियोग किया। परिषद का इस प्रकार की वास्तविक शक्ति का कारण यही पणबन्ध या सन्धि थी। यदि राजा उसे न माने तो परिषद उसे पदच्युत कर सकती थी। जैसा शुक्र ने अपने युग की तथ्यात्मक विचारधारा के आधार पर लिखा है।

राजा और ब्राह्मण के बीच की संधि के वास्तविक स्वरूप का यही संकेत है। राजा राज्याभिषेक के समय पहले कठोर शपथ लेता था और तव राज्यासन पर बैठता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक में वह शपथ दी हुई है-

"राजा कहता था, जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी उन दोनों के बीच में जो मेरी संतति, धन, आयुष्य और यश वह सब नष्ट हो जाय यदि मैं प्रजाओं से द्रोह करूं।" यह अभिषेक शपथ संविधान की कुंजी थी। इसी के कारण राजा की परिभाषा चरित्रार्थ होती थीं-

"राजा प्रकृतिरंजात् राजा प्रजा रंजनलब्ध वर्णः।"

शान्ति पर्व में ही राजा का यह वर्णन आया है (29/139) 'प्रजा से द्रोह न करूं' का निर्देशात्मक पक्ष यह था कि प्रजा का रंजन करूं। व्यवहार में प्रजा रंजन की कसौटी या मर्यादा क्या थी, यह उसी प्रकार थी जैसी आज है, अर्थात् मन्त्रि परिषद के साथ राजा का ऐश्वर्य भाव या राजा के पणबन्ध का सचाई। इसका स्वरूप वही था जो मनु लिखा है, अर्थात् राजा षाड्गुण्य के विषय में अपने मुख्य मंत्री से अवश्य परामर्श करें।

{मनु0- 7/58}

जब तक राजा मंत्रि परिषद के परामर्श से शासन करता वह प्रजा रंजन की कसौटी पर खरा उतरता, अर्थात् वह प्रजाओं से द्रोह न करने की अपनी अभिषेक शपथ का पालने वाला समझा जाता था।

प्रश्न यह है कि मुख्यमंत्री के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यो किया गया। यह उस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान राजा शास्त्रवेत्ता की मुख्यमंत्री होते थे, और उनकी पदूवी ब्राह्मण होती थी। कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि "जिस क्षत्र को ब्राह्मण का समर्थन प्राप्त है जिसे अपनी परिषद के अन्य मंत्रियों के परामर्श का लाभ प्राप्त है, जो शास्त्र का पालन करता है, वह अजित प्रदेशों को भी अपने विजित में ले आता है।"

{अर्थ0- 1/18}

जो पहले से ही उसके विजित में है उसकी दृढ़ स्थिति का तो कहना ही क्या। मुख्यमंत्री जाति से ब्राह्मण हो, जैसा वह प्रायः होता था, या न हो, इसका राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्व न था, क्योंकि यहां जातिगत स्वत्व का प्रसंग नहीं था, यहॉ तो राजनीति को प्रजा हित में मर्यादित और संचालित करने वाले आर्य व्यक्ति को ढूंढ निकालने वाले और उसके महनीय पद की सुरक्षा का प्रश्न था। कौटिल्य या मनु के समय में आर्य ब्राह्मण के पद का विकास वैदिक युग से चला आ रहा था। वहॉ स्पष्ट ही यह आदर्श व्यवहार में मान्य था-

"ब्राह्मणा क्षत्रेण च श्रीः परिगृहीता भवति।"

अथवा

"यत्र ब्रह्मं च क्षत्रं च सम्यच्चौ चरतः सह।"

मनु ने भी इस सिद्धान्त को ग्रहण किया था।
{9/322}

महाजनपद मौर्य युग तक राजा के साथ उसके प्रधानमंत्री का भी उतना ही महत्व था। साहित्य में कई महामंत्रियों के नाम बच गये हैं। जैसे- मगधराज अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार, कोशलराज विडूडम के महामंत्री दीर्घ चारायण, वत्सराज उदयन के महामंत्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री आर्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवन्ति राजपालके के महामंत्री आचार्य पिशुन।

{अर्थशास्त्र- टीका}

"चंड प्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अंशुमान के आचार्य घोटमुख।"
{भगवद्दन्त, भारतवर्ष का इति0, पृ0 258}

"कोशलराज परंतप के कणिक भारद्वाज।"
{अर्थटीका}

"पंचाल राज ब्रह्मदत्त के आचार्य बाभ्रव्य।"
{मत्स्य पुराण- 2/30}

जो ऋग्वेदीय क्रमपाठ के कर्ता बहुत बड़े वैदिक विद्वान भी थे। जैसा कि जायसवाल ने लिखा है राजा के नाम के साथ उसके महामंत्री के नाम का उल्लेख है। महाजनपद युग और बुद्ध के युग की विशिष्ट प्रथा थी। ये सब महांत्री अपने शासकों की निति के सर्वांश में निर्देश करते थे।

कौटिल्य के अनुसार राजा कितने मंत्रियों की संख्या क्या हो, इस प्रश्न पर प्राचीन आचार्यों के कई मत थे। पिशुन, पाराशर, विशालाक्ष और भारद्वाज के मतों का उल्लेख करके कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि मंत्रियों की संख्या तीन या चार होनी चाहिये।

{अर्थशास्त्र- 1/15}

इस विषय में कर्णिक भारद्वाज का मत सबसे उग्र था-

"गुह्यमेको मंत्रयेतेति भारद्वाजः।"
{अर्थ0- 1/15}

राजा को उचित है कि गुह्य मंत्र के विषय में अकेला ही विचार करे। अर्थात् एक स्वयं और एक मुख्यमंत्री ये ही मंत्र करें। इसी प्रकार का मंत्र केवल राजा और मुख्यमंत्री की चार ऑखे तक सीमित रहता था। भारद्वाज कारण देते हैं कि अधिक मंत्रियों के बीच गया हुआ गुह्य मंत्र फिर गुह्य नहीं रह सकता, वह फूट जाता है-

"मंत्रिपरम्परा मंत्रं भिनत्ति।"
{अर्थ0- 1/15}

कौटिल्य ने और अशोक ने शिलालेख छः में आत्यधिक कार्यों के विषय में मंत्रणा करने का उल्लेख किया है-

"आत्याधिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्।"
{अर्थ0 1/15}

यहाँ परामर्श की दो कोटियाँ हैं- मंत्रिणः, मंत्रिपरिषदं। आवश्यक कार्य के विषय में पहले मंत्रियों से परामर्श करे और सम्भव हो तो सारी मंत्रिपरिषद के साथ भी। यहाँ जो मंत्रिणः पद है उससे तात्पर्य मुख्यमंत्री दो मंत्री, तीन या चार चुने हुए मंत्रियों से है जैसा कि कर्णिक भारद्वाज विशालाक्ष या कौटिल्य का मत था।

राजसभा-

मंत्रि परिषद के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थीं। अनुश्रुति के अनुसार विन्दुसार की राजसभा में पांच सौ सदस्य थे। राजसभा के उदाहरणों में भाष्य में चन्द्रगुप्त सभा, पुष्यमित्र सभा के नाम हैं। राजसभा के दो अर्थ थे, एक सभासदों का समूह और दूसरा वह भवन जहाँ सभा होती थी। वैदिक युग में भी सभा शब्द के ये दोनों अर्थ थे।

{वैदिक इंडेक्स- 2/426}

बैदिक कालीन सभा खम्भों के आधार पर टिकी होती थी। चन्द्रगुप्त सभा का पुरातत्वगत प्रमाण मिल गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र के उत्खनन में लगभग अस्सी पाषाण स्तम्भों में उत्तम्भित विशाल सभा के अवशेष मिलते हैं। ये स्तम्भ वैदूर्य के समान मृष्ट या चमकीले हैं। यही मौर्य युग की शिल्पकला थी। चन्द्रगुप्त की जो विद्वत्सभा थी उसका विवरण

यूनानी लेखकों ने दिया है। मौर्ययुग से प्राचीन काल में काष्ठ शिल्प का प्रचार भास में राज प्रसादों के निर्माण में काष्ठ शिल्प की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है-

"कन्यापुरप्रासादः एष तु काष्ठकर्मबहुलतया समासन्नजालत्वाच्च।"
{भासनाटक चक्र पृ0- 142}

सभ्य जैसे परिषद की सदस्यता की साधुता (योग्यता या अधिकार) रखने वाले के लिए परिषद्य शब्द था, वैसे ही सभा की सदस्यता के लिए जिनकी साधुता थी वे सभ्य कहे जाते थे। इसके लिए प्राचीन वैदिक शब्द सभेय था। वैदिक सभा में ब्राह्मण और मघवन्त ही सदस्य हो सकते थे, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

पुरोहित-

कौटिल्य के अनुसार मुख्यमंत्री के बाद पुरोहित के पद का महत्व होता था, और उसके बाद सेनापति का तब युवराज का।
{अर्थशास्त्र- 5/3}

वेद और दण्डनीति दोनों का पाण्डित्य पुरोहित के लिए आवश्यक था। उसके कर्म, भाव और पद को पौरोहित्य कहा है। पत्यन्त शब्दों के अर्न्तगत सेनापति के कर्म और भाव को सैनापत्य कहा गया है। इसी प्रकार राजा का कर्म और पद राज्य कहा जाता था।

महिषी-

भारतीय राजतंत्र में पट्ट महादेवी या महिषी की बैधानिक स्थिति थी। राजा के साथ उसके भी सिंहासन पर महाभिषेक किया जाता था। महिषी के बाद प्रजावती अर्थात् राजा की अन्य नारियों का उल्लेख है। उन्हें मिलने वाला आचारयुक्त (धर्म्य) देय प्रजावत था। माहिष और प्रजावत धर्म्य देय वह पूजा वेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के अनुसार पट्ट महादेवी और दूसरी रानियों को पाने का अधिकार था। कौटिल्य ने इसकी मात्रा दी है। तद्नुसार राजमहिषी को 48000 पण और कुमार माता (दूसरी रानी) को 12000 पण वार्षिक भत्ता मिलता था।
{अर्थ0- 5/6}

जातकों में प्रायः अज्ज महेसि का उल्लेख आता है।
{जा0- 5/22, 6/31}

महिषी के अतिरिक्त और सब रानियाँ प्रजावती कहलाती थीं। बुद्ध माता के अतिरिक्त शुद्धोधन की दूसरी रानी प्रजावती गौतमी थीं। ये राजाओं के अन्तःपुर या अवरोध में रहने वाली स्त्रियाँ थीं, जिन्हें अशोक के लेखों में 'ओरोधन' कहा है।

युवराज-

राजा के पुत्रों को राजपुत्र और राजकुमार कहा गया है। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे-

(1) बालक राजा
(2) राजा का कुमार पुत्र।

सब राज पुत्रों में महिषी का पुत्र युवराज होता था, जिसे आर्य कुमार कहा जाता था। आर्य ब्राह्मण और आर्य कुमार दोनों में आर्य शब्द राजशास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट पद या अधिकार का सूचक था।

"समुद्रगुप्त की प्रयाग स्तम्भ प्रशस्ति में उसे 'आर्य' कहकर पिता ने युवराज चुना था (आर्योहीत्युपग्रह्य)। किन्तु अब श्री बहादुर चन्द्रजी छाबड़ा ने 'एहोहीत्युपगुह्य' शुद्ध पाठ माना है।"

जातकों में आर्य कुमार को उपराजा कहा गया है। एक जातक में राजा के दो पुत्रों में से जेष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। पिता की मृत्यु के बाद उपराजा और सेनापति उपराजा बन गया।

{जात0- 6/30}

राजकुमार-

राजकुमार का अर्थ वह राजा था जिसे परिस्थिति वश कुमार अवस्था में ही राज्य पद प्राप्त हो गया हो। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातब्य है कि यद्यपि कुमार अवस्था में वह राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता था, किन्तु उसका अभिषेक वयः प्राप्त होने पर ही किया जाता था। अशोक के सम्बन्ध में ऐसी ही हुआ था।

राजकुल के परिचारक-

राजकुल से सम्बन्धित बहुत से अधिकारी होते थे, जैसे राजा के निजी अंग रक्षक, दौवारिक या प्रतीहार, धार्मिक कार्यों के अध्यक्ष एवं शरीर की परिचर्या करने वाले अनेक प्रकार के सेवक आदि।

अंग रक्षक-

राजा के शरीर की रक्षा करने वाले अंग रक्षक अधिकारी जिन्हें कौटिल्य ने आत्मरक्षितक कहा है।

{अर्थ0- 2/31}

वृहदारण्यक उपनिषद में उग्र, सूतग्रामणी और प्रत्येनस् का उल्लेख है, जहाँ उसका अर्थ दण्ड रक्षक किया गया है। राजा के शरीर की रक्षा का कार्य बहुत दायित्व पूर्ण था और कौटिल्य ने उसके लिए विशेष विधान का आदेश दिया है।

दौवारिक-

राजकुल में द्वार का सर्वोच्च अधिकारी दौवारिक कहलाता था। राजकुल की ड्योढ़ी से सम्बन्धित सब प्रकार का दायित्व इस अधिकारी के ऊपर होता था। वाण ने हर्षचरित में अनेक प्रकार के राजकुल के सेवकों का उल्लेख किया है। जैसे- ब्राह्य प्रतीहार, आभ्यन्तर प्रतीहार, महा प्रतीहार उन सब के ऊपर दौवारिक संज्ञक महाप्रतीहार का पद हर्ष के समय तक था। सम्भवतः उसके बाद भी यह परम्परा रही। दौवारिक का पद वैदिक युग से ही आरम्भ हो गया था।

कौटिल्य ने द्वौवारिक का वार्षिक वेतन 24000 पण दिया है। अर्थात् महिषी का आधा और प्रजावती रानियों से दुगुना जिससे इस पद का महत्व सूचित होता है।

"दौवारिक सन्निधातारः चतुर्विंशति साहस्राः।"

{अर्थ0- 5/3}

स्वगतिक अधिकारी-

राजा की दिनचर्या नियत रहती थी। कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है। तद्नुसार कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त रहते थे, जो उन विशेष मुहूर्तों में राजा के स्वागत और कुशल प्रश्न आदि द्वारा उसकी दिनचर्या को नियमित बनाने में सहायत होते थे। राजसभा में राजा के पधारने पर जो स्वागत करे वह स्वागतिक कहलाता था। राजा के प्रातः काल नित्य कर्म से निवृत हो जाने पर जो उसके लिए स्वस्तिवाचन का पाठ करता था वह सौवस्तिक कहलाता था। कात्यायन ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है-

(1) सौखशायनिक-

जो प्रातःकाल राजा के निद्रा त्याग करने पर उसके रात में सुख पूर्वक शयन करने के विषय में प्रश्न करता था, अर्थात् उस विषय के कुछ श्लोक पाठ करता था-

"सुखशयनं पृच्छति।"

लोह कुम्भी जातक में कथा है कि कोसल के राजा के यहाँ प्रातःकाल सुखशयन पूंछने के लिए ब्राह्मण आया करते थे।

"अरुणगमनवेलया ब्राह्मणा आगन्त्वा राजानं सुखसयितं पुच्छिंसु।"
{जातक- 3/43}

(2) सौखरात्रिक-

वह व्यक्ति जो सुख पूर्वक रात्रि व्यतीत होने के सम्बन्ध में कुशल क्षेम पूंछता था।

(3) सौस्नातिक-

जो राजा के स्नानादि से निवृत्त होने पर कुशल प्रश्न से उसका स्वागत करता था-

"सुस्नातं पृच्छति"

कालिदास ने राजा की दिनचर्या ये सम्बन्धित सौस्नातिक का उल्लेख किया है।

{रघुवंश-6/61}

सौखशय्यिक-

जो व्यक्ति राजा के लिए सुखशय्या तैयार करके अपनी जीविका चलाता था, उसे सौखशय्यिक कहते थे। बुद्ध ने चार प्रकार की शय्याओं में चौथी तथागत शय्या को कहा है जो रागद्वेष रहित होने के कारण तथागत की सुख निद्रा थी। उसे ही बुद्ध ने सच्ची सुखशय्या माना था। इससे सूचित होता है कि राजा एवं आढ्य पुरुषों के लिए जो विशिष्ठ शय्या पुष्पादि से तैयार की जाती थी वही मूल में सुख शय्या थी। उसके लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे जो सौखशैय्यिक कहलाते थे।

परिचारक-

राजा का उपभोग-परिभोग विधि से सम्बन्ध रखने वाले परिचारकों के कुछ नाम उस काल में आये हैं। जैसे- परिषेचक, स्नापक, उत्सादक, उद्धर्तक, प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका आदि को जो आचार नियत वेतन मिलता था।

वह क्रमशः प्रालेपिक, वैलेपिक, आनुलेपिक कहलाता था। अगुरु, कुंकुम, चन्दन आदि से विलेपन लगाने वाली विलेपिका स्त्री को जो धर्म्य द्रव्य दिया जाता था उसे भाष्य में वैलेपिक कहा है। उत्सादक और उद्धर्तक परिषेचक और स्नापक, इन परिचारकों के कर्तव्यों में कुछ भेद रहा होगा। ऐसे ही अनुलेपिका के काम भी कुछ भिन्न रहे होंगें। प्राचीन साहित्य से इन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। उपासक दशांग में राजा की उपभोग परिभोग विधि का यह क्रम कहा गया है।

(1) अभ्यंग, तैल के साथ
(2) गन्ध मिले हुए आटे के साथ
(3) मज्जन
(4) वस्त्र विधि, क्षौम युगल धारण करना
(5) विलेपन विधि, अगरु, चन्दन, कुंकम आदि से।
(6) पुष्प विधि
(7) आभरण विधि
(8) धूपन विधि
(9) भोजन विधि।

आटे में सुगन्धित द्रव्य और तेल मिलाकर या सरसों हल्दी को साथ पीस कर उबटन बनाया जाता है। उसके मलने वाले उद्धर्तक कहलाते थे। परिषेचक और स्नापक का अन्तर स्पष्ट नहीं है। ज्ञात होता है कि जो उबटन आदि धो डालने के लिए पहले पानी डालते थे, वे परिषेचक और जो बाद में सुगन्धित जल के घड़ों से स्नान कराते थे, वे स्नापक कहलाते थे। चन्दन आदि शरीर में लगाने वाली परिचारिका अनुलेपिका थी। उसी में और अधिक सूक्ष्मता से अगुरु, कुंकुम, कपूर, चन्दन आदि द्वारा निर्मित यक्ष कर्दम एवं अन्य सुगन्धियों को शरीर में लगाने वाली स्त्री परिचारिका विलेपिका कहलाती थी। प्रलेपिका का कार्य स्पष्ट नहीं है। सम्भव है प्रलेय स्नान से पहले लगाये जाते हों।

द्वितीय परिच्छेद

शासन

राज्य-

एकराज शासन में सर्वोपरि व्यक्ति राजा था। उसकी सहायता के लिए मन्त्रियों की परिषद होती थी। सभा नाम की बड़ी समिति भी थी। परिषद में मन्त्रियों की संख्या का निर्देश शतपथ में है। किन्तु जैसा कौटिल्य ने लिखा है उनकी संख्या प्रशासन की आवश्यकता के अनुसार नियत की जाती थी।

"अशोक के ब्रह्मगिरि के लघु शिला लेख में इसे आर्यपुत्र कहा गया है।"

ये महत्वपूर्ण अधिकारी थे अतएव भाषा में इनसे सम्बन्धित विशेष शब्द प्रचलित थे।

शासन तन्त्र के अधिकारी-

शतपथ में कई प्रकार के प्रशासनिक अधिकारियों का उल्लेख आया है। शासन के संचालन के लिए अधिकारी तन्त्र का गठन हो चुका था। सरकारी सेवक साधारणत युक्त या आयुक्त कहे जाते थे, जो कि राजकीय कार्य का निर्वाह करते थे। कौटिल्य ने राजा के आयुक्त पुरुषों का उल्लेख किया है। अशोक के कलिंग शिलालेख संख्या-2 में आयुक्तों का उल्लेख है।

"देसा आयुतिके।"

जब राजसेवक विशेष काम पर नियुक्त किये जाते, तो वे नियुक्त कहलाते थे, और उस दायित्व के अनुसार उनका नाम पड़ता था। शुल्कशाला में नियुक्त अधिकारी शौल्कशालिक, खानों में नियुक्त अधिकारी आकारिक, बाजार के प्रबन्ध में नियुक्त आपणिक, गुल्म सा सेना की टुकड़ी का प्रबन्ध गौल्मिक और राजद्वार के प्रबन्ध में नियुक्त दौवारिक कहलाता था।

राजा के निजी परिचारक या पारिपार्श्विक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियों में गिने जाते थे।

अध्यक्ष-

शासन के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अधिकारी अध्यक्ष कहलाते थे। कौटिल्य के अनुसार अध्यक्ष एक-एक विभाग के उच्चतम प्रशासनिक अधिकारी होते थे। अर्थशास्त्र में पच्चीस अध्यक्षों के नाम आए हैं। उनमें अश्वाध्यक्ष और गवाध्यक्ष भी हैं।

युक्त-

कौटिल्य के अनुसार युक्त उन सरकारी सेवकों की सामान्य संज्ञा थी, जो प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे उस-उस विभाग में काम करते थे। प्रत्येक अधिकरण या विभाग में युक्त, उपयुक्त और तत्पुरुष तीन प्रकार के अधिकारी होते थे-

"सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्त तत् पुरुषाणाम्।"
{अर्थ0- 2/5}

प्रत्येक विभाग के अधिपति अध्यक्ष और उनके निर्देश के कार्य का निर्वाह करने वाले युक्त से ही दो प्रकार के अधिकारी शासन की सच्ची रीढ़ थे। अश्वशाला के युक्त अधिकारियों को युक्तारोही कहा गया है। उन्हें ही अर्थशास्त्र में युक्तारोहक कहा गया है।

{अर्थ0- 5/3}

उन्हें प्रतिवर्ष 500 से 1000 कार्षापण तक पूजा वेतन दिया जाता था। युक्ता रोहक अधिकारियों का कर्तव्य अविनीत हाथी और घोड़ों को शिक्षा देकर उन्हें आरोहण के योग्य बनाना था। कौटिल्य में नदीपाल, द्रव्यपाल, बनपाल, नागवनपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल के नाम आए हैं। महाभारत आदिपर्व- 222/16 में सभापाल, विराटपर्व- 11/8 में तन्तिपाल को बड़ा अधिकारी माना गया है, जिसकी आज्ञा में और भी पाल काम करते थे।

राजकीय घोष या पशुशाला एवं मन्दुरा में पशुओ की संख्या आयु और उनके लक्षण-चिन्ह आदि की सूची बनाने का कार्य करते थे। इस प्रकार की पशु गणना का उदाहरण महाभारत के घोषयात्रा पर्व में आया है, जहाँ दुर्योधन के घोष में पोषित गाय, बछड़े, बछिया और गाभिन ओसर इन सब की आयु, रंग और लक्षणों को ठीक प्रकार से निश्चित करने का उल्लेख है।

कारकर और क्षेत्रकर-

खेतों कर नाप जोख करके बन्दोबस्त करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहे जाते थे, जिन्हें पालि साहित्य में रज्जुगाहक कहा गया है। कुरुधम्म में जातक एक अमात्य का उल्लेख है जो जनपद में जाकर खेतों को नापता और उनकी गिनती करता था। उसकी रस्सी में दो खूंटियाँ बनी रहती थीं। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खूंटी गाड़ देता था और खेत का स्वामी दूसरा सिरा पकड़े हुए खेत में जाता और खूंटी को यथास्थान गाड़ कर नाप कराता था।

{जातक- 3/276}

कारकर संज्ञक अधिकारी विशेष प्रकार के राजकीय करों के वसूल करने वाले थे। पाली साहित्य में भी इसी नाम के अधिकारियों का उल्लेख है। सामञ्जफलसुत्त मे एक गरीब किसान राजा के अधिकारी को गॉव में आया हुआ देख कर समझता है कि या तो वह कारकर था, जो विशेष प्रकार की लाग (कार) वसूल करने के लिए आया था, या वह रासिबड्ढक था जो खलिहान में रास नाप कर राजा का भाग ले जाने के लिए आया था।

"इध ते अस्स पुरिसो कस्सको गहपतिको कारकार को रासिबड्ढकों।"
{दीघ निकाय, सामञ्जफलसुत्त- 2/38}

कुरुधम्म जातक में रासिवड्ढक या रास नापने वाले सरकारी नौकर को द्रोणमापक कहा गया है। राजा को उपज का छठा भाग राजग्राह्य अंश के रूप में दिया जाता था, उसे आज तक भाग की कहते हैं। उस भाग संज्ञक अन्न को नापने वाला वर्तन भागद्रोण कहलाता था।

दूत-

राज शासन में दूत का महत्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उसकी संज्ञा प्रसिद्ध होती थी। जैसे कोशल जनपद का जो दूत मथुरा में नियुक्त किया जाता था, वह माथुर कहलाता था। समाचार लेकर जाने वाले धावन जंघकर कहलाते थे। जिन्हें कौटिल्य ने जंघरिक कहा है।

{अर्थ0- 2/1}

एक योजन, दो योजन, पॉच योजन, दस योजन इत्यादि भिन्न-भिन्न दूरियों तक समाचार ले जाने वाले धावन उन-उन नामों से प्रसिद्ध होते थे। धावन संस्था का मौर्य शासन में महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने एक योजन से सौ योजन की दूरी तक सन्देश ले

जाने वाले धावनों का उल्लेख किया है। उन्हें दस योजन की दूरी तक प्रति योजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिए वेतन उत्तरोत्तर दुगुना हो जाता था।

{अर्थ0- 5/3}

"दशपणिको योजने दूतः मध्यमः।
दशोन्तरे द्विगुण वेतन आयोजनशनादिति।"

शासन में धावन संस्था का संगठन और देशों में भी था। दूत लोग लिखित शासन ले जाते थे या मौखिक संदेश कहते थे। कौटिल्य ने पहले को शासनहर और दूसरे को परिमितार्थ दूत कहा है।

{अर्थ0- 1/12}

कौटिल्य ने सबसे ऊँची कोटि के दूत को निसृष्टार्थ कहा है।
"अमात्यसम्पदोपतो निसृष्टाथ।"

उसे ही अवसृष्टार्थ भी कहते थे, जिससे हिन्दी बसीठ शब्द बना है। उसे राजा की ओर से कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। कृष्ण पाण्डवों की ओर से दुर्योधन की सभा में अवसृष्टरार्थ दूत बना कर भेजे गये थे। इससे ज्ञात होता है कि कर्त्ता इसी प्रकार के राज प्रणिधि की संज्ञा थी, और उसे नियुक्त करने वाला राजा या मुख्यामात्य कर्तृकर कहलाता था।

सौराज्य-

शासन का अर्थ सौराज्य अर्थात् शान्तिपूर्ण सुव्यवस्थित राज्य था। सौराज्य अवस्था प्राप्त करने का साधन जनपद में राजा की प्राप्ति थी, राजा के अभाव में जनपद की स्थिति अराजक राष्ट्र की हो जाती थी। उस स्थिति में प्रजाएँ मात्स्यन्याय से बरतती थीं औश्र बलवान अललों का भक्षण करते थे। अतएव राजनीति विशारदों का विचार था कि मात्स्यन्याय से बचने के लिए राजा का होना आवश्यक है। जातकों में और अर्थशास्त्र में कहा गया है कि मात्स्यन्याय की दुरवस्था से बचने के लिए प्रजाओं ने राजा का वरण किया। इस पृष्ठभूमि में देखने से राजन्वान् शब्द के विशिष्ट अर्थ का परिचय होता है। राजन्वान् और अराजक जनपदों का भेद शान्तिपर्व अध्याय 68 और अयोध्याकाण्ड अध्याय 67 में आया है।

विनय शीलता-

राजा, राजकुमार, राजपुरुष, प्रजा आदि के लिए अनुशासन की शिक्षा को कौटिल्य ने विनयाधिकार कहा है। वस्तुतः विनय की राज्य का मूल है। विनय के अभाव में धर्म मूलक राजय की कल्पना असम्भव समझी जाती थी, और राज्य को अराजक जनपद की स्थिति ग्रस लेती थी। शान्तिपर्व का 68वां अध्याय वैनयिक के आदर्श की व्यवस्था करता है। यूनान के पुरु राज्यों में तीन आदर्शों के समन्वय की कल्पना की गई थी, उन्नति की पूर्णतम अवस्था को प्राप्त राज्य, उच्चतम नीतिधर्म, उत्कृष्टतम् नागरिक। ये तीनों एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के मूल समझे जाते थे। ठीक इसी प्रकार भारतीय जनपदों के युग में धर्म, धार्मिक राजा या राष्ट्र और धार्मिक प्रजा या लोक इन तीनों के सह अस्तित्व या पारस्परिक अविनाभाव की कल्पना थी। इसे ही वैनयिक आदर्श माना जाता था। कोसल देश के विनयज्ञ राजा वसुमना ने अपने राज्य में वैनयिक आदर्श की स्थापना की।

"सर्व वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञः"

{शान्तिपर्व- 68/4}

यह सर्वभूतहित निरत राज्य की विधि थी जिससे प्रजाएँ अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकती थीं। इसके लिए तीन बातें आवश्यक थीं। पहला धर्म, दूसरा धर्म परायण प्रजाएँ और तीसरा धर्म मूलक राज्य।

"सर्वं वैनियकं कृत्वा विनयज्ञो वृहस्पतेः।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधि पूर्वकम्।।
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वभूत हिते रताः।
प्रजानां हित मन्विच्छन् धर्ममूलं विशांपते।।
केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन च।
कर्मचन्तों महाप्राज्ञ सुखमत्यन्तमाप्नुयुः।।
इति पृष्टो महाराजा कौसल्येनामितौजसा।
राजसत्कार मव्यग्रः शशंसास्मै वृहस्पतिः।।
राजमूलो महाराज धर्मालोकस्य लक्ष्यते।
प्रजाराजभयादेव न खादन्ति परस्परम्।।
राजाह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते।।"

सामयिक-

समय को की सामयिक कहते थे। "समय एव सामयिकः" जनपद याराष्ट में दो प्रकार के नियम या कानून मान्य होते थे। एक राजा द्वारा प्रचारित कानून "राजकृत धर्म" और दूसरा जो लोक संस्थाओं के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रिवाज चले आते थे। श्रेणि अर्थात् शिल्पियों की संस्था, निगम अर्थात् वणिक् जनों की संस्था, पाषण्ड अथवा धार्मिक सप्रदायों का सामूहिक संगठन और गण अर्थात् राजनीतिक संघ या संगठन ये चार प्रकार की संस्थाएँ याज्ञवल्क्य स्मृति (2/192) में कही गई हैं, जिनका सार्वजनिक अस्तित्व था और जिनके अपने नियम या आचार प्राप्त धर्म या रिवाज थे। उन नियमों को पारिभाषिक शब्दावली मे सामयिक कहते थे।

"निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत।
सोऽपियत्नेन संरक्ष्यों धर्मों राजकृतश्चयः।।"
{याज्ञवल्क्य स्मृति-2/186}

सामयिक प्राचीन कालीन शब्द था उसे ही कालान्तर में स्मृतियों में संवित् कहा गया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने दोनो को ही कानून प्रामाणिकता प्रदान की थी। वर्तमान न्यायालयों का निर्णय भी ऐसा ही है।

सामयाचारिक-

सामयाचारिक धर्म से तात्पर्य सामाजिक रीति-रिवाजों से था, जो कि धर्मशास्त्रों के क्षेत्र में भी मान्य समझे जाते थे। "अर्थशास्त्र में समयाचारिक विशेष प्रकरण का नाम है।"

{अर्थ0- 5/5}

इस प्रकरण में समयाचारिक के अन्तर्गत समाहत सन्निधता आदि राज्य अधिकारियों द्वारा जो आय विविध करों से की जाती थी, उसका विशेष रूप से उल्लेख है। लोक मे जो बहुत तरह के लागभाग थे, उनका समर्थन किसी राजाज्ञा से नहीं, वल्कि रिवाज के कारण होता था।

किस माल पर कितनी चुंगी लगे यह भी पुराने बन्धेज की बात थी। हाट बाजार लगाने के लिए दुकानों पर कितनी वसूली की जाय इत्यादि शौल्कशालिक औश्र आपणिक के रूप में उगाही की जाती थी। उन सब के मूल में आचार या रिवाज को की प्रधानता दी जाती थी। इसी प्रकार समाज में भिन्न-भिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले लोगों को कितना पारिश्रमिक दिया जाय, अथवा महिषी, प्रजीवती, पुरोहित आदि राज्य के विशिष्ट

अधिकारी या सम्मानित व्यक्तियों को कितना पूजा वेतन दिया जाय अथवा प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका, मणिपाली आदि परिचारिकाओं को उनकी सेवा के बदले में कितना नेग दिया जाय, सब का निर्णय लोकाचार या [illegible] या रिवाज के अनुसार होता था। इससे सूचित होता है कि लाग, भाग, ताग, पाग, पुच्छी, उगाही, महसूल आदि अनेक प्रकार के छोटे-बड़े घर, दुआरी, हाट चौतरा, जमा, माल आदि से संवन्धित करों का निश्चय समयाचारिका के अर्न्तगत किया जाता था।

औपयिक-

साम, दाम, दण्ड, भेद इन चार उपायों के संबन्ध रखने वाली राजनीति और उसकी प्राप्ति के अनेक साधनों को औपयिक कहा जाता था। उनका विस्तार अर्थशास्त्र के शासनाधिकार प्रकरण में किया गया है।

{अर्थ0- 2/10}

व्यावहारिक-

इसके अन्तर्गत धर्म या कानून का वह समस्त अंश आता है, जिसे कौटिल्य के व्यवहार स्थापना कहा है। इसके अंग इस प्रकार हैं। विवाह, दायविभाग, वास्तु विक्रय, समय, ऋणदान, औपनिधिक, दास कर्मकरकल्प, संभूय समुत्थाय अर्थात् साझे का व्यापार, साहस अर्थात् उग्र अपराध, वाक्पारुण्य, दण्डपारुण्य आदि। ये ही कालान्तर में धर्मशास्त्रों के व्यवहाराध्याय का विषय बन गया।

समाचारिक-

जैन धर्म में साधुओं के आचार सम्बन्धी नियम समाचारिक कहे जाते हैं। सम्भवतः राजसभा उत्सव आदि के कार्यों के सम्पादन की उचित विधि के लिए यह शव्द प्रयुक्त होता था।

शासन सम्बन्धी कुछ बातें-

कौटिल्य ने भृत्य भरणीय प्रकरण में राज कर्मचारियों के वेतनों की लम्बी सूची दी है।

{अर्थ0- 5/3}

वेतन देने का आधार मासिक था। उसे भृतक मास कहते थे। कर्मनिष्ठ अधिकारियों को अर्थशास्त्र में कर्मण्य कहा गया है।

"एतावल कर्मण्या भवन्ति।"
{अर्थ0- 5/3}

कौटिल्य ने औपनिषदिक शब्द का प्रयोग उन निन्द्य उपायों के लिए किया है, जिनका प्रयोग गुप्तचर विभाग में अधर्मिष्ठ व्यक्तियों के लिए किया जाता था।

आय के स्थान-

प्राचीन काल में जो आय जिस स्रोत से प्राप्त होती वह उसी नाम से पुकारी जाती थी। आज भी राजकीय आय-व्यय के लेखे में आयवाची शब्दों की योजना इसी नियम के अनुसार की जाती है। पतञ्जलि के प्राचीन उदाहरणों का संकलन करते हुए शुल्कशाला या चुंगी से प्राप्त होने वाली आय को शौल्कशालिक, आपण या तहबजारी से प्राप्त आय को आपणिक एवं गुल्म से प्राप्त आय को गौल्मिक कहा है। खानों से प्राप्त आय आकरिक कही जाती थी। चुंगी की जितनी रकम हो उसी के अनुसार माल का नाम पड़ता था, जैसे- पंचकः, दशकः, शतिकः, साहस्र। वह माल जिस पर 5, 10, 100 या 1000 कर्षापण चुंगी दी गई हो।

"पंच अस्मिन् शुल्कः दीयते।"

आय के साधन-

प्राचीन काल में आय के साधनों का उल्लेख आया है। हाट पैंठ के लिए वनाए गये चबूतरे जिनसे वसूल होने वाली तहबजारी की आमदनी राजकीय कोष में जाती थी। उदपान अर्थात् कुओं की सिंचाई आदि की आय, उपल अर्थात् पत्थर की खान, तीर्थ अर्थात् नदी की तराई जिसे अर्थशास्त्र में तरदेय कहा है। भूमि अर्थात् भूमि से प्राप्त लगान, तृण अर्थात् घास आदि के जंगलों की आय, पर्ण अर्थात् पलाश आदि के वृक्षों के पत्तों से आय जो पत्तल बनाने के काम में आते थे। आजकल भी शासन की ओर से मूँज, वबई, भाबर आदि घासों के जंगल एवं जंगली पत्ते, फूल, फलों के ठेके नीलाम किये जाते हैं।

गौल्मिक-

गुल्म वृक्षों के जंगल और सैनिक टुकड़ी को कहते थे। कौटिल्य ने शुल्क, वर्तनी, आतिवाहिक, गुल्मतर आदि करों का उल्लेख किया है।

{अर्थ0- 2/16, 2/35}

श्री गणपति शास्त्री ने गुल्मदेय की व्याख्या एक स्थान पर वनस्थानिक देय और दूसरे स्थान पर रक्षिसंघ देय की है। जंगली थाने और रक्षा पुरुष इन दोनों का संकेत एक ही है, अर्थात् रक्षा के लिए चौकी का उल्लेख पद्मावत में किया गया है।

"प्राचीन काल में इस प्रकार की रक्षा चौकियों को स्थानक या गुल्म कहते थे, उसी से निकला हुआ थाना शब्द मध्यकालीन हिन्दी में भी प्रयुक्त हुआ है।"

{पद्मावत- 532/6}

"1225 को लिखी हुई वस्तुपाल तेजःपाल प्रसस्ति मे इन्हे 'रक्षाचतुष्पिका' अर्थात् रक्षा के लिए स्थापित चौकियाँ कहा गया है।"

थाना जो राज्य की ओर से विशेषतः निर्जन स्थान या जंगलों में स्थापित किये जाते थे, जिससे सार्थवाह [illegible] एवं यात्री निविघ्न यात्रा कर सकें। इस रक्षा प्रबन्ध के लिए जो कर लिया जाता था उसकी आय गौल्मिक कहलाती थी। मनु से इस व्यवस्था के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। जैसे छोटे-बड़े गॉव होते उन्हीं के अनुसार दो, तीन या पॉच गांवों के वीच एक गुल्म या थाना स्थापित किया जाता था। वे सव सौ गॉवों के बीच में बड़े रक्षा स्थान या थाने के साथ जुड़े रहते थे।

"द्वयो स्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्मधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद् राष्ट्रस्य संग्रहम्।।"

{मनु0- 7/114}

"गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृत संज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलान् भीरूनविकारिणः।।"

{मनु0- 7/190}

प्रत्येक गुल्म के सैनिक अपने कार्य में सुशिक्षित (आप्त) और विशेष प्रकार का वेष आदि धारण किये हुए रहते थे। जिससे उनकी पहचान हो सके। इन रक्षा पुरुषों को सैनिक न कहकर वर्तमान पुलिस के अनुरूप मानना अधिक उचित होगा यद्यपि दोनों के संगठन में भेद की रेखा नाम मात्र ही थी।

राजा कनक वर्ण ने एक बार अपनी उदारता बस सोता कि मैं ऐसा प्रवन्ध करूं जिससे सब व्यापारियों को अपने माल की न चुंगी देनी पड़े च गुल्म कर।

"यन्वहं सर्व वणिजोऽशुल्कान् अगुल्मान्"

{दिव्यावदान पृ0- 201}

सूरपाकर बन्दरगाह के सामुद्रिक व्यापारी पूर्ण ने समुद्र यात्रा पर चलने से पूर्व घोषणा कर दी कि जो व्यापारी मेरे संग व्यापार यात्रा के लिए उठेगा, उसे चुंगी गुल्म कर और जहाज का भाड़ा न देना पड़ेगा।

कुछ विशेषकर-

भारत के पूर्वी भाग में कुछ विशेष कर लगाये जाते थे। कर वसूल करने वाले अधिकारी कारकर कहलाते थे। किसी राजपुरुष को गांव में आया हुआ देखकर गाँव का निर्धन किसान सोचता है कि या तो यह कार वसूल करने वाला कार कारक अधिकारी होगा या खलिहान की रास नापने वाला राजपुरुष रासवड्ढ़क कहलाता है।

तृतीय परिच्छेद

धर्म और न्याय

वैदिक चरणों के अन्तर्गत धर्म का अध्ययन एक विषय के रूप में स्वीकृत हो गया था। कात्यायन ने स्पष्ट कहा है कि वैदिक चरणों से सम्बन्धित निजी आम्नाय ग्रन्थ और धर्म ग्रन्थ थे।

न्याय के अनुकूल कर्म या आचार न्याय्य कहलाता था। भ्रेष और अभ्रेष शव्द का प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में इन्हीं अर्थों मे आया है।

न्यायालय-

व्यवहार अर्थात् धर्मस्थ और कण्टशोधन सम्बन्धी (दीवानी फौजदारी} कानून के लिए न्यायालय शब्द का उल्लेख शतपथ काल में किया गया है। वादी प्रतिवादी जिसे विवाद का मध्यस्थ बनाते वह स्थेय कहलाता था। वादी या अभियोक्ता के लिए परिवादी या पदिवादक शब्द प्रचलित थे। गवाह साक्षी कहलाते थे किन्तु उनके प्रमाण का आधार घटना का साक्षाद्दर्शन था। कालान्तर में सुने हुए वृतान्त के आधार पर गवाही देने वाले भी साक्षी कहे जाने लगे।

"समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाद्वा।"
{विष्णु धर्मसूत्र-3/13}

जो व्यक्ति जिस विषय में साक्ष्यज्ञान रखता था, वह उसी नाम से अभिहित होता था, जैसे गौ के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद के प्रसंग में उस विषय की जानकारी रखने वाला व्यक्ति गो साक्षी कहलाता था और उसकी गवाही वहीं तक उपयोगी या मान्य समझी जाती थी।

शपथ-

साक्षी होने वाले व्यक्तियों को नियमानुसार शपथ दिलाई जाती थी। प्राचीन प्रथा के अनुसार ब्राह्मण वर्ण के साक्षी को गवाह देने से पूर्व यह शपथ लेनी पड़ती थी, कि मैं जो कुछ कहूँगा, सच कहूँगा। ऐसे ही इतर जाति के लोगों के लिए भी शपथ लेने के नियम थे। मनु ने उन प्राचीन नियमों का उल्लेख किया है।

"सत्येन् शापयेद् विप्रम्।"
{मनु0- 8/113}

जमानत देने वाला व्यक्ति प्रतिभू कहलाता था, जैसे- गोप्रतिभू अर्थात् गाय या वैल के सम्बन्ध में जो जामिन बना हो।

व्यवहार-

व्यवहार के अन्तर्गत् कई प्रकरणों का समावेश किया जाता था। दाय ग्रहण करने वाला दायाद कहलाता था और जो वस्तु या भाग उसें मिलता था, उसे दायाद्य कहते थे। साक्षी और प्रतिभू के समान ही जो जिस वस्तु का दायाद होता था उसी के अनुसार संज्ञा होती था, जैसे गोदायाद। दाय या उत्तराधिकार में कई व्यक्ति हिस्सा बॉटने वाले हों तो प्रत्येक का भाग अंश और पाने वाला अंशक कहलाता था।

अपराध-

उग्र फौजदारी अपराधों के लिए साहसिक्य शव्द था। कई प्रकार के अपराधों का उल्लेख आता है, जैसे- चोरी, डकैती, राहजनी आदि। मज्झिम निकाय में 5 प्रकार के चोर कहे गये हैं- सन्धिछेदक, गामघातचोर, पन्थघात चोर, पेसनक चोर, अटवी चोर। पालि साहित्य में एकागारिक शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ में है। गौतम ने अपने को एकागारिक, द्वयागारिक, सप्तागारिक अर्थात् एक घर, दो घर या सात घर से भिक्षा मांगकर लाने वाला भिक्षु कहा है।

दण्ड-

किसी अपराध के लिए न्यायालय द्वारा जो रुपये पैसे का जुर्माना किया जाता था, उसे दण्ड कहा गया है। चॉदी के दो पास सिक्के या दो सौ रूपये का जुर्माना। किन्तु दण्ड शब्द का इससे भी विस्तृत अर्थ था, जिसके अन्र्तगत् शरीर दण्ड की गणना भी होती थी, यास्य ने इस अर्थ में दंड्य शब्द का प्रयोग किया है-

"दड्यः पुरुषो दण्डमर्हतीतिवा, दण्डेन सम्पद्यत इतिवा।"
{निरुक्त- 2/2}

"यास्क ने यह उदाहरण यह दिखाने के लिए दिया है, कि लोक में वृत्तियों या अर्थों का ठीक-ठीक निर्धारण करना मुश्किल है, जैसे- दण्ड्य शब्द में यही नहीं जान पड़ता कि जो दण्ड के योग्य है उसे दण्ड्य कहा जाय। इसी प्रकार के उलझे हुए अर्थों को विस्पष्ट करके पृथक-पृथक वृत्तियों में प्रत्ययों का विधान है।"

चतुर्थ परिच्छेद

सेना

शतपथ में सेना के विभिन्न अंगो का उल्लेख है, ये सेनांग कहलाते थे, और प्राचीन काल से चार की चले आते थे, जैसे- हस्त्यारोह, अश्वारोह, रथी और पदाति। दो सेनांगो की पारस्परिक घनिष्ठता सूचित करने के लिए उनके नामों के जोड़े प्रयुक्त होते थे, जैसे-

"रथिकाश्वरोहम् रथिकपादातम्।"

पैदल सेना पदाति कहलाती थी। साल्व जनपद के पैदल सैनिकों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। सांडनी सवारों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, जिन्हें उष्ट्रसादि कहते थे। ऊँट और खच्चरों की मिली जुली टुकड़ी उष्ट्रवामि कहलाती थी।

सेना के साथ अनेक प्रकार के अन्य अधिकारी भी रहते थे, जो उसकी बहिरंग व्यवस्था के लिए आवश्यक थे।

सैनिक-

सेना में भर्ती होने वाले सिपाही या सैन्य कहलाते थे। घुड़सवार सेना का अध्यक्ष अश्वपति और सेनाध्यक्ष सेनापति कहलाता था। प्रयाण करती हुई सेना के साथ चलने वाला व्यक्ति सेनाचर कहलाता था। युद्ध करने वालों का नामकरण उनके हथियारों के नाम से किया जाता था। आज भी यही पद्धति है। आसिक अर्थात् तलवार से लड़ने वाला, धानुष्क अर्थात् धनुषवाण से लड़ने वाला। परश्वध या फरसे से लड़ने वाले पारश्वधिक और शक्ति युद्ध के सैनिक शाक्तीक कहे जाते थे। लठैत या लाठी से युद्ध करने वाले लोगों के लिए याष्टीक शव्द था।

"शक्ति यष्ट्योरीकक्।"

महाभारत के अनुसार सरस्वती प्रदेश के आभीर लोग यष्टि युद्ध में दक्ष थे। पतञ्जलि ने लिखा है कि हथियार चलाने वालो का बोध प्रत्यय के बिना भी हथियार के नाम से ही हो सकता है। यह उल्लेखनीय है कि शाक्तीकी, याष्टीकी नामक स्त्री सैनिकों का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। इस सम्बन्ध में ज्ञात है कि स्त्री सैनिकों का विशेष उल्लेख अर्थशास्त्र में आया है जिन्हें राजभवन में रक्षार्थ नियुक्त किया जाता था। यह सम्भव है कि स्त्री सैनिकों की प्रथा का आरम्भ मौर्य युग से ही हुआ हो। कवचधारी सैनिकों की विशेष

टुकड़ी कावचिक कहलाती थी। समुचित आयु मे जो व्यक्ति सैनिक सेवा के योग्य हो जाता, उसे कवचहर इस विशेष शब्द से अभिहित किया जाता था।

परिस्कन्द-

अर्थववेद के व्रात्यसूक्त में इस शब्द का अर्थ कई वार प्रयोग हुआ है, जहाँ उसका अर्थ रथ के दोनों ओर रहने वाले दो पदाति सैनिकों से है। महाभारत में इन्हें चक्र रक्षक कहा गया है-

"रथानां चक्र रक्षाश्च।"
{भाष्यपर्व- 18/16}

चौथी शती ईस्वी पूर्व की भारतीय सेना में इस प्रकार के परिस्कन्द सैनिकों का उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने किया है। उनके अनुसार युन्द्ध में संप्रयुक्त रथ में चार घोड़े जुतते थे और उसके साथ छह सैनिक रहते थे, दो सारथी, दो ढाल लिये हुए लठैत और दो धनुर्धारी जो रथ के दोनों ओर बाण छोड़ते हुए युद्ध करते थे, इन्हें ही चक्र रक्षक कहा जाता था।

शास्त्रास्त्र-

धनुष, शक्ति, परश्वध, कासू अर्थात् लम्वा बर्छा, कासतूरी अर्थात् छोटा बर्छा, हेति अर्थात एक विशेष प्रकार का फेंकने वाला अस्त्र और असि या तलवार जिसे कौछेयक भी कहते थे।

हखामनि साम्राज्य के राजा ख्शर्याश ने जब यूनान पर चढ़ाई की तो उसकी सेना में गान्धारि देश के सैनिक भी थे। यूनानी इतिहास लेखक हेरोदोत ने लिखा है कि वे छोटे बर्छों से युन्द्ध करने में दक्ष थे। शतपथ 6/6/2/11 की टीका में उसका सम्बन्ध कृमुक शब्द से माना है। कौटिल्य के अनुसार कार्मुक ताड़ के पेड़ की लकड़ी से बनाया जाता था। महाभारत में तालमय धनुष का उल्लेख आता है। कौटिल्य ने धनुष का परिमाण 5 हाथ या 7।। फुट माना है।

{अर्थ0- 10/5}

ज्ञात होता है कि महेष्वास नामक लम्बे धनुष की यही ऊँचाई थी। राजा पुरु ने सिकन्दर के विरुद्ध जो युद्ध वितस्ता पर लड़ा था, उसमें उनके पदाति सैनिक इसी प्रकार के धनुष से लड़े थे। धनुष का एक सिरा पैर से साधे रहते थे, और एक हाथ से धनुष की मूठ पकड़ कर दूसरे हाथ से लम्बे और भारी बाण चलाए जाते थे। यूनानियों ने लिखा है कि कैसा भी कवच हो उनकी मार को न सह पाता था।

युद्ध क्रिया-

वाहीक प्रदेश एवं उत्तर पश्चिमी प्रदेश में इस प्रकार के अनेक छोटे-वड़े आयुधजीवी संघ थे। मालव, क्षुद्रक इन दोनों का आयुध जीवी संघ अपनी सम्मिलित सेना रखता था। मशकावती के अश्वकायन वीरतापूर्वक सिकन्दर से लड़े थे। वरणा नामक उनका अजेय दुर्ग पहाणी पहाड़ी पर बना था।

पंचम परिच्छेद

जनपद

शिक्षा के क्षेत्र मे चरण, सामाजिक जीवन के क्षेत्र में गोत्र और राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में जनपद। ये तीन बहुत ही महत्वपूर्ण और जीती जागती संस्थाएँ थीं। इन तीनों से सम्बन्धित सामग्री संस्कृत, बौद्ध और जैन साहित्य में इतनी विस्तृत हैं कि ये तीनों पृथक् अनुसंधान के विषय हो सकते हैं।

जनपदों का महत्व-

वैदिक संहिताओं में जनपद शब्द का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी बहुत कम इस शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ में केवल एक बार बहुत सामान्य सा उल्लेख है।

"अथ यत् किंच जनपदे कृतान्नं, सर्व वः तत् सुतम।"
{शतपथ- 13/4/2/17}

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्तिम अध्याय में उत्तरकुरु और उत्तरमद्र को जनपद कहा गया-

"एतस्यामु दीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुख उत्तरमद्र इति वैराज्याय एव तेऽभिषिच्यन्ते।"

{ऐ0- 3/144}

जैमिनीय, तैत्तिरीय, गोपथ और सामविधान ब्राह्मणों में केवल एक-एक बार जनपद शब्द आया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण युग के अन्त में जनपद संस्था का आरम्भ हुआ। लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व पाँच से सौ ईस्वी पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास में जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों का तांता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे।

जिस प्रदेश में जनपदीय जीवन संगठित रूप से उपर उभर आया, वहीं शान्ति सुव्यवस्था और नीति धर्म की स्थापना हो गयी और वह प्रदेश अराजक स्थिति के उपर उठ गया। जिस समय वह आन्दोलन पूर्व वेग पर था, उस समय जनपदीय आदर्श स्थानीय जनता के जीवन में प्रभापशाली प्रेरक शक्ति के रूप में प्रविष्ट हो गये। स्थानीय

जीवन के विभिन्न प्रकारों ने जनपदों के रूप में संतुलित स्थिति प्राप्त कर ली। जैसा हम पहले कह चुके हैं, जनपद के भौगोलिक विस्तार को पृथ्वी कहा जाता था, और उस पर पृथ्वी के साथ स्थानीय जनता प्रगाढ़ मातृत्व के स्नेह से बँध गयी थी।

"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।" यह उसी उदात्त भावना की अभिव्यक्ति थी।

प्रत्येक जनपद की भूमि वहाँ के निवासियों की सच्ची धात्री थी। जन, भाषा, धर्म, अर्थ व्यवस्था और संस्कृति इन सब की दृष्टि से जनपद हर एक प्रदेश में स्थानीय जीवन की दृढ़ इकाईयाँ थीं। समस्त देश में जनपदों की लम्बी श्रृंखला फेली हुई थी। उनका काल कृत स्थायित्त्व भी कम न था। अनेकों जनपदों के अवशेष अपने-अपने क्षेत्र में आज भी पहचाने जा सकते हैं, यद्यपि उनके राजनैतिक वैभव को समाप्त हुए सहस्रों वर्ष वीत गये हैं।

जनपद सूची-

भारतवर्ष का जो भौगोलिक सीमा विस्तार था, उसके अन्तर्गत मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर सुदूर दक्षिण तक और पश्चिम में सिन्धु सौवीर कच्छ से लेकर पूर्व में अंग, बंग, कलिंग और सूरमस तक फेले हुए जनपदों के लगभग 175 नामों की सूचियाँ अंकलित की गई थी, जो कि पुराणों के भुवन कोशों में सुरक्षित हैं।

वस्तुतः देश का शायद ही कोई ऐसा प्रदेश या भाग होगा, जिसका नामकरण जनपद के रूप में न हुआ हो। पुराणकारों ने अपनी सूचियाँ देश के भौगोलिक विभागों को ध्यान में रखते हुए एकत्र की थी।

जनपद और पुर राज्य-

यूनान देश के इतिहास में वहाँ के पुर राज्य जग प्रसिद्ध हैं। यूनान छोटा सा देश है, जिसमें सैकड़ों पहाड़ी इलाके एक दूसरे से बँटे हुए है। प्रत्येक में एक-एक जन या कबीले के जीवन का स्वतंत्र विकास हुआ। उस कबीले का सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन पर एक पुर या नगर में केन्द्रित होता था, जो वहाँ की राजधानी थी। इस प्रकार के राज्य यूनान देश में पुर राज्य (सिटी स्टेट) कहलाए। उनके विकास और उन्नति का समय भी लगभग वही था, जो भारतवर्ष में जनपद राज्यों का था। पुर राज्यों में कुछ छोटे और कुछ अधिक शक्तिशाली होते थे, जैसे- एथन्स और स्पार्टा, जो यदा-कदा दूसरे पुर राज्यों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमा लेते थे। वैसे ही अपने देश में भी मगध, कोसल, मद्र, गन्धार आदि जनपद राज्य महाजनपदों के रूप में विकसित हो गये। बहुत से जनपदों के राजनैतिक प्रभुत्व पर चौका फेर कर ही मगध के साम्राज्य का उदय हुआ।

यूनान देश की संस्कृति का सर्वोत्तम विकास पुर राज्यों में हुआ था। भारतीय जनपद राज्यों का प्रयोग यूनान देश से कहीं अधिक विस्तृत और महान् था। एक तो वह अपेक्षाकृत बहुत बड़ा भू-भाग में हुआ और दूसरे उसका स्थायित्व और राजनैतिक प्रभाव दूर तक व्याप्त रहा।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी जनपद युग में भारतीय संस्कृति की जो मूल प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई, उसका स्वरूप उस युग में सम्पन्न हुआ, उसी के आधार पर कालान्तर में जनपद संस्कृतियों के मिलने से राष्ट्रीय संस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। भारतीय जनपदों का अध्ययन करते हुए उनका यथार्थ स्वरूप और महत्व अभी तक पूरी तरह पहचान में नहीं आया है।

जनपदों की सीमा-

यूनान के पुर राज्य अधिकांश पहाड़ी प्रदेश घाटियों में फेले थै। एक को दूसरे से पृथक करने वाली निश्चित सीमाएँ थीं। भारत में भी प्रत्येक जनपद की नियम सीमाएँ थी। कुछ जनपद विस्तार में इतने बड़े होते थे कि स्वभावतः वे कई हिस्सों में वंटे हुए थे, जिनके नाम लोक में अलग-अलग विख्यात हो जाते थे।

पूर्व मद्र रावी से चनाव तक और पश्चिमी मद्र चनाव से झेलम तक का प्रदेश था। जनपद की राजधानी शाकल या स्यालकोट पूर्व मद्र में ही थी इसी प्रकार सिन्धु नदी गान्धार महाजनपद को दो भागों में बॉटती थी। एक पूर्व गन्धार जिसकी राजधानी लक्षशिला थी और दूसरा अपर गन्धार जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी। जिस प्रकार सर्वजनपद और अर्ध जनपद की भौगोलिक इकाई व्यवहार में थी, और जिस प्रकार एक ही जनपद के अर्न्तगत पूर्व पश्चिम के भेद वास्तविक थे, वैसे ही एक जनपद का पूरव का आधा भाग अपरार्ध, दक्षिण का दक्षिणार्ध, उत्तर का उत्तरार्ध इन नामों से व्यवहृत होता था।

ग्राम समुदाय और नगर-

वस्तुतः जनपद में ग्राम समुदाय और नगर दोनों की स्थिति थी। नगर, जनपद की राजधानी होती थी। उसके चारों ओर के ग्रामों में दूर-दूर तक जनपदीय जीवन का ताना बाना फैला हुआ था। यूनानी पुर राज्यों का ढॉचा भी कुछ ऐसा ही था। किन्तु पुर राज्यों का क्षेत्रफल भारतीय जनपद की अपेक्षा बहुत छोटा होता था। अतएव उनमें नगर या राजधानी का सर्वापहारी महत्व था जिसके कारण वे पुर राज्य नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वतन्त्र नागरिक प्रायः पुर में ही निवास करते थे और शेष भू-भाग में दास या कृषकों की बस्ती होती थी। भारतीय जनपदों में ग्राम समुदाय का महत्व नगर के समान ही था, और जनपद स्वामी क्षत्रिय ग्रामों में भी निवास करते थे। इस कारण भारतवर्ष में पुर राज्य की अपेक्षा जनपद यह साभिप्राय शब्द स्थिति का यथार्थ सूचक था। किन्तु अपने यहॉ भी प्रत्येक जनपद

में दुर्ग की स्थापना आवश्यक थी। दुर्ग का ठीक वही अर्थ था जो यूनानी पुर राज्यों में उनकी सुगुप्त राजधानी का समझा जाता था। जिस पारखेयी भूमि, नगर द्वार प्राकार, देवपथ, राजप्रसाद आदि का उल्लेख है। उनका सम्बन्ध जनपद की राजधानी के निर्माण से ही था। राजधानी के बिना जनपद की कल्पना संभव न थी। पुर या नगर जनपदीय जीवन के स्वाभाविक उत्कर्ष स्थान थे जहॉ से सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन के सूत्र चारों ओर फेलते थे।

पुर राज्य के साम्य-

यूनान के पुर राज्यों के विकास की भी ये ही चार अवस्थाएँ थीं, उनकी पहली अवस्था जन या कबीलों की थी, और दूसरी कुलों की थी। तीसरी अवस्था वह थी, जिसमें छोटे कबीलों ने अपना विस्तार करके एक शस्त्रधारी जाति के रूप में अपना सामूहिक संगठन कर लिया और किसी प्रदेश में राजधानी बना कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। चौथी अवस्था पुर राज्य की अवस्था थी।

समान पूर्वज-

जन अपने आपको किसी एक पूर्वज से उत्पन्न हुआ मानता था। यूनानी पुर राज्य और भारतीय जनपद दोनों के स्वामी इस कल्पना को समान रूप मानते थे।

महाभारत से ज्ञात होता है कि वे सब सावित्री और सत्यवान की सन्तान थे। उन्हें पुत्रशतम् कहा गया है।

"सावित्र्यास्तद् वै पुत्र शत्रं जज्ञे।"
{आरण्यक- 28/3/12}

इसमें पुत्र शब्द अपत्यवाची है और शतं अनिश्चित सख्या का सूचक है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जब यही शत संख्या बढ़कर सहस्रों में पहुँचती थी और पुत्रशत मे से प्रत्येक के कुल या कुटुम्बों का विस्तार होने लगता था, तो सौ दो सौ वर्षों में जन का विस्तार काफी बढ़ जाता था, जैसा कि स्वयं सावित्री पुत्रों के विषय में महाभारत में कहा गया है-

"ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः।"
{कर्ण- 4/47}

फिर भी समग्र जाति के इस विश्वास में कोई अन्तर नही पड़ता था, कि उनका निकास एक की पूर्वजों से हुआ है। वस्तुतः प्रत्येक जाति आवश्यकतानुसार अपने लिए

एक ऐसे पूर्वज की भी कल्पना कर लेती थी। उदाहरण के लिए महाभारत में अंग, बंग, कलिंग, मह्म और पुण्ड्र इन पाँचो जनपदों के आदि संस्थापकों को बलि की रानी सुदेष्णा के पाँच पुत्र कहा गया है- जिनका जन्म दीर्घतमा ऋषि द्वारा हुआ था। प्रत्येक ने अपने नाम से एक-एक जनपद की स्थापना की थी।

{आदि पर्व- 98/32}

इसी प्रकार वाहीक देश के महत्वपूर्ण जनपद मद्र और शाल्व के आदि पुरुषों को व्युषिताश्च के पुत्र कहा गया है।

{आदि0- 112/33}

भक्ति-

अपने जनपद और जनपद स्वामी क्षत्रियों के प्रति भक्ति यह जनपदीय जीवन की विशेषता थी। जनपद का प्रत्येक नागरिक जब तक उस जनपद एवं वहाँ के क्षत्रियों के प्रति भक्ति रखता था तभी तक वहाँ का नागरिक था। जनपद और जनपदिन् इन दोनों के प्रति भक्ति के मूल में दो प्रकार की विचार धारा काम करती थी। राष्ट्र के प्रति निष्ठा जनपद की भक्ति हुई। इसका उल्लेख "माताभूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।" इस वाक्य में आया है। जनपद स्वामी क्षत्रियों के प्रति भक्ति का तात्पर्य उस शासन के प्रति निष्ठा से था जो उस समय वहाँ सत्तारूढ़ होता था। जनपदनि् या जनपद स्वामी क्षत्रिय विशेषतः गणराज्यों में मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय होते थे, जो स्वयं राजा कहलाते थे, और सब मिलकर जनपद के शासन में योगदान देते थे। उनके प्रति भक्ति का तात्पर्य उस राजनैतिक निष्ठा से था जो विभिन्न वर्ग या दलों की सदस्यता के रूप में अभिव्यक्ति होती थी। प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक था कि वह अपने गण में किसी वर्ग से संवन्धित हो।

यूनान के पुर राज्यों में प्रत्येक नागरिक अपने पुर के प्रति उसके शासक एवं उसके नियमों के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा को अपने जीवन का सर्वोत्तम गुण मानता था। इस भाव को महात्मा सुकरात ने इस कथन से व्यक्त किया है-

"जिस प्रकार अपने माता-पिता और स्वामी के प्रति वैसे ही अपने देश और उस विधान के प्रति भी नागरिक को उचित है कि वह अपकार का उत्तर, प्रत्यपकार ये और घात का प्रतिघात से न दे। देश माता से भी अधिक है उसके लिए सब कुछ सह लेना चाहिये।"

{ग्लौत दी ग्रीक सिटी एण्ड इट्स इन्स्टीट्यूशन्स पृ0 140}

प्रत्येक जनपद की भूमि पृथिवी कहलाती थी, और वह पृथिवी प्रत्येक नागरिक के लिए उसकी माता थी। नागरिक अपने आपको उसका पुत्र समझता था।

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।"
{अथर्व0- 12/1/12}

धर्म-

जनपदों के जीवन में एक नयी प्रेरक शक्ति धर्म के रूप में प्रकट हुई। यह धर्म रीति-रिवाज वाला प्राचीन समयाचारिक धर्म न था। वल्कि धर्म का तात्पर्य उन धारणात्मक नियमों से था, जो प्रजा और राष्ट्र को धारण करते हैं, महाभारत में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार है-

"नमो धर्माय महते धर्मो धारयतिप्रजाः।"
{उद्योग पर्व- 137/9}

[illegible] और सृष्टि व्यापी अखण्ड नियम की संज्ञा धर्म थी उससे अनपेत या अविरहित भाव को धर्म कहा जाता था। जनपद का ध्येय इस प्रकार के धर्म की पूर्णतम अभिव्यक्ति और उन्नति करना था। इस आदर्श की सर्वोत्तम स्वीकृति केकय देश के राजा अश्वपति के उद्गार में पायी जाती है। जो उसने महाशाला, महाश्रेत्रिय जानपद जन की उपस्थिति में प्रकट किया था-

जनपद में कोई चोर नहीं मेरे,
मद्यप और कदर्प नहीं है हेरे।
आत्मग्लानि विद्वान सभी सुविचारी,
आचार हीन नर नहीं कहाँ नारी।।

उसी को छन्दोदय उपनिषद में इस प्रकार कहा गया है-

"न में स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहितागिन विद्वान न स्वैरिणी कुतः।।"

यूनान के पुर राज्य नीतिधर्म के आदर्श को दिव्य गुण और ईश्वरीय सत्ता का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते थे। पुर राज्यों में और जनपदों में जीवन के उच्चतम् परिष्कार की भावना का स्रोत नीति अर्थात् धर्म था। जनपदों में उत्कृष्ट बुद्धिवाद के नए आदर्श की उपसना की जा रही थी, जिसे इस काल के साहित्य में प्रज्ञा कहा गया है। जनपदों के नागरिक और शासक दोनों के लिए प्राज्ञ आदर्श का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थानों पर आता है।

{शान्ति पर्व- 67/27}

महाभारत के शान्ति पर्व (64/4) में वैनायिक कहा गया है। यह वैनयिक आदर्श व्यवहार में तभी चरितार्थ किया जा सकता था, जब जनपद में सुशासन की व्यवस्था हो। इससे विपरीत जनपद अराजक राष्ट्र बन जाता था।

{शान्ति0- 68/1-16}

जनपद संस्कृति-

अथर्ववेद में कहा है कि पृथ्वी बहुत से जनों को धारण करती है, जो पृथक् धर्मों के मानने वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले हैं।

"जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथ्वी यथौकसम्।"
{अथर्व0- 12/1/45}

जन की यह पृथक स्थिति धीर-धीरे समाप्त हुई और एक जनपद में भाषा धर्म और आर्थिक जीवन का समानताएँ विशेष रूप से प्रकट हुई। जनपदीय जीवन भेद की अपेक्षा साम्य की ओर अधिक प्रवृन्त हुआ। प्रत्येक जनपद इस बात में स्वतन्त्र था कि वह अपने यहाँ किस प्रकार की शासन प्रणाली को प्रश्रय दें, अर्थात् वह एकाधीन या राजाधीन हो, गणाधीन हो अथवा श्रेणी पूग के रूप में संगठित हो। प्रत्येक जनपद अपने जीवन के क्षेत्र में स्वतन्त्र होता था। प्रत्येक की अपनी प्रभुसत्ता रहती थी, जबतक की उसके पड़ोसी राज्य उसके स्वतन्त्रताओं में बाधक न बन जाते थे। फिर भी जनपद को संस्कृति, भाषा और धर्म का प्रवाह निविघ्न अपने क्रम से प्रवत्तः होता रहता था।

बुद्ध ने यह अनुमति दी थी कि प्रत्येक जनपद उनका उपदेश अपनी भाषा या बोली में प्रचारित करने के लिए स्वतन्त्र था। उनका यह भी कहना था कि जिन चैत्य या देवताओं की पूजा किसी जनपद में पहले से चली आती थी उसमें विघ्न होना चाहिये। प्रत्येक जनपद में अपने-अपने प्रमुख यक्ष या नाग देवता के चैत्य या स्थान थे। उनकी पूजा समस्त जनपद का सामान्य धर्म था। बौद्ध, जैन, भागवत आदि व्यक्ति गत् धर्म नाग यक्षादि धर्मों और विश्वासों के स्थान में पीछे से प्रचलित हुए।

वैदिक युग के बाद जनपदों में ही भारतीय संस्कृति का नया विकास हुआ। जनपदीय जीवन में प्रज्ञा या बुद्धि प्रधान दृष्किोण का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ। बुद्धि का यह स्फोट नाना भाँति के शिल्प और अनेक प्रकार की विद्याओं के रूप में प्रकट हुआ। प्रत्येक जनपद में स्थानीय शिल्पों की नींव इसी युग में पड़ी। ये शिल्प आर्थिक जीवन के विकास के नये साधन थे। जनपदीय जीवन के विषय में यास्क ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया-

"यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषो वेदितृषु च भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।"
{निरुक्त- 1/5}

अर्थात् एक जनपदीय शिल्पों में निपुणता प्राप्त करने से पुरुष प्रशंसनीय होता है, दूसरे वह व्यक्ति श्रेष्ठ समझा जाता है जो वेदितृ जनों के मध्य में कई शास्त्रों का ज्ञाता हो।

प्राचीन [illegible] चरणों में विकसित हुआ। अब जनपदों के नये युग में दो प्रकार की नई शिक्षा का विकाश हुआ जिनका उल्लेख यास्क के इस वाक्य में है। एक तो जनपदी वृत्ति या शिल्पों में कुशलता प्रतिष्ठा का कारण था। दूसरे ज्ञान के क्षेत्र में जो किसी भी एक शास्त्र या विज्ञा के जानकार होते थे वे वेदिता कहलाते थे।

जनपदों में अनेक दिग्गज आचार्य हुए जिन्होंने कितने ही नये शास्त्रों की उद्भावना की। सच पूँछा जाय तो भारतीय साहित्य में विविध शास्त्र और दर्शनों की मूल प्रतिष्ठा का आरम्भ इसी युग में हुआ। इस समय राष्ट्र में ज्ञान का चौमुखी विस्फोट हुआ उसका प्रमाण उपनिषदों में, महाभारत में एवं प्राचीन और बौद्ध साहित्य में एवं जैन साहित्य मे पाया जाता है। वौद्धिक विकाश के क्षेत्र में यही स्थिति यूनान के पुर राज्यों में हुई थी। वहाँ भी पुर राज्यों का युग ज्ञान के चरमोत्कर्ष का युग था। पुराने ढंग की होमरीय शिक्षा का स्थान नये दार्शनिक चिन्तन और नये शिल्पों ने ले लिया था।

शासन के विविध प्रकार-

मुख्यत. राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे, किन्तु उनमें भी विकास की कितनी ही कोटियाँ थीं। उस युग में जनपद मानो विविध प्रकार के शासन की प्रयोगशाला बने हुए थे। एकाधीन जनपद को राजाधीन भी कहते थे, अर्थात् वहाँ राजा और मन्त्रि परिषद की शासन संस्था का विकास हो चुका था। दूसरे प्रकार के जनपद गण या संघ कहलाते थे। संघों में शासन के अनेक अवान्तर भेद थे। किन्तु अब उनके सूक्ष्म भेद-प्रभेदों को जानने का कोई साधन नहीं है। कुछ संघ विकास की आरम्भिक अवस्था में ही थे। वहाँ के निवासी प्रायः उत्सेधजीवी या लूटमार करके जीविका निर्वाह करने वाले होते थे। वे अपनी सीमा के भीतर किसी प्रकार की संघीय प्रणाली कायम करके काम चलाते थे। राजशास्त्र की दृष्टि से उनके ये प्रयत्न उच्चकोटि के न थे, किन्तु फिर भी लोक में उनका अस्तित्व अवश्य था। इस प्रकार के संघों को व्रात और पूग कहते थे। विशेषतः भारत के उत्तर पश्चिम में ऐसे सैकड़ों संघों का जाल फेंका हुआ था।

अनेक व्रात या आयुधजीवी लड़ाके यूनानी पुर राज्यों में और थ्रेस के पहाड़ी इलाकों में थे। वे युद्ध और लाभ के लोभ से सिकन्दर की सेना में भर्ती होकर आ गये थे।

सभा और परिषद-

प्रत्येक जनपद में चाहे वह राजाधीन या, गणाधीन उसकी एक सभा और एक परिषद होती थी। सभा राजाधीन परिषदों में राजा के नाम से प्रसिद्ध होती थी जैसे- चन्द्रगुप्त सभा, पुष्यमित्र सभा जिनका उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। जातक कथाओं में प्रायः राजसभा के 500 सदस्यों का उल्लेख आता है। इस सभा में पौर जानपद प्रतिनिधि एवं अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति और विद्वान सदस्य होते थे। राजाधीन जनपद में परिषद से तात्पर्य मंत्रिपरिषद से था। उसी के कारण "परिषद्वलों राजा" यह साभिप्राय शब्द लोक में प्रचलित हुआ था। गणराज्यों में सभा के संगठन का आधार कहीं अधिक व्यापक था। संघ या गण में जो मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय या राजन्य होते थे, वे सब सभा में बैठने के अधिकारी थे। इसकाः अच्छा उदाहरण वृष्णयन्धक गण की सभा का वह अधिवेशन है, जो सुभद्राहरण के अवसर पर सभापाल द्वारा सान्नाहिकी भेरी बजाकर बुलाया गया था। कहा गया है कि उस शब्द से क्षुब्ध होकर भोज, वृष्णि और अन्धक खानी पीना छोड़कर भागते हुए सभा में आए।

{आदि पर्व- 212/12}

भारतीय सभा की तुलना यूनानी पुर राज्यों की सभा के साथ करने से उसके संगठन पर मूल्यवान प्रकाश पड़ता है। यूनान में सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिए नागरिक को अट्ठारह वर्ष की आयु प्राप्त करना आवश्यक था। तब उसका नाम जन की सूची मे पंचीबद्ध कर लिया जाता था। किन्तु उसके बाद भी उसके लिए दो वर्ष की सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतएव बीस वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद ही नागरिक को अट्ठारह अधिवेशनों में व्यवहारतः सम्मिलित हो पाते थे।

यह योग्यता अट्ठारह वर्ष की आयु में प्राप्त होती थी। कवचहर की ध्वनि यही है कि वह युवा कुमार सैनिक शिक्षा प्राप्त करने लगता था। उसकी समाप्ति के वाद वह सुवा सभेय अर्थात् सभा में भाग लेने योग्य होता था। सभेय वैदिक शब्द जो इस प्रकार है-

"सभयो युवारस्य यजमानस्य वीरो जायताम्।"

गण या संघ में प्रतिनिधित्व का आधार कुलों का संगठन था। प्रत्येक कुल एक इकाई माना जाता था। एक कुल का एक प्रतिनिधि शासन में भाग लेने का अधिकारी होता था, जो राजा कहलाता था।

"गृहे-गृहे हि राजानः।"

{सभापर्व- 14/2}

लिच्छवि गण में 7707 कुल और उनके उतने ही राजा थे। चेत जनपद मे साठ सहस्र क्षत्रियों की गणना की जाती थी, और उन सब की उपाधि राजा थी।

भारतीय गणाधीन जनपदों में भी यूनान की तरह व्यवस्था थी। समग्र जन की सभा में 6000 की उपस्थिति का उल्लेख आया है। अथर्ववेद में देवजन के लिए छह सहस्र संख्या का उल्लेख है।

"ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयति सर्वे षट्सहस्रा।"
{अथर्व0- 11/5/2}

यहाँ सर्वदेव जन और पृथग् देवजन, जन की द्विविध स्थिति का उल्लेख है। वस्तुतः समस्त जन या गण की जो सभा थी उसी का आदर्श कल्पना देव जन की सभा में चरितार्थ होती थी। मानवजन की सभा और देवजन की सभा ये दो नियम संगठन और आदर्श की दृष्टि से अभिन्न थी। वृष्णि संघ के अधिवेशन का उल्लेख है, उसमें स्पष्ट लिखा है कि उनकी वह सभा सुधर्मा कहलाती थी जो कि देवताओं की सभा की संज्ञा प्रसिद्ध है।

"ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।"
{आदि पर्व- 212/10}

इस प्रकार अथर्ववेद में सर्वदेव जन के लिए जो षटसहस्र संख्या कही गई है उसे गण सभा की संख्या निश्चय पूर्वक माना जा सकता है।

षष्ठम परिच्छेद

संघ या गण

गणाधीन संघ-

शतपथ काल में दो प्रकार की शासन पद्धति मुख्यतः प्रचलित थी, पहला एकराज और दूसरा संघ।

एकराज जनपद राजनैतिक परिभाषा के अनुसार एकाधीन और संघ शासन वाले जनपद गणाधीन कहलाते थे। यह स्पष्ट है कि पहले में ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रित रहती थी और दूसरे में वह सम्पूर्ण गण में निष्ठित होती थी। भारतीय राज पद्धति में जनजीवन के मन्थन से समुद्भूत ऐसा महत्वपूर्ण और व्यापक प्रयोग उससे और बाद में फिर कभी देखने में नहीं आया। संघ आन्दोलन ने देश के अति विस्तृत भू-भाग को छा लिया था। संघ आदर्श का आकर्षण इतना अधिक था कि न केवल राजनीति के क्षेत्र में बल्कि परिवारों के गोत्र संज्ञक संगठन में जाति या सामाजिक पंचायतों के संगठन में पूग श्रेणी और निगम नामक आर्थिक संस्थाओं के संगठन में एवं चरण नामक शिक्षा संस्थाओं के संगठन में सर्वत्र संघ आदर्श में ही जनता की अभिरूचि थी। इसी पृष्ठभूमि में शाकलः संघः, संघः दक्षः अंकः, दाक्षं लक्षणम् इस प्रकार के उदाहरण ठीक प्रकार समझे जा सकते हैं। जैसे वर्तमान समय में किसी भी प्रकार की सभा या संगठन हो, उसका आदर्श संघ शासन से लिया जाता है। ऐसी हवा चली थी कि जनता की शासन पद्धति अधिकार निर्णय स्वतन्त्र संगठन एवं सैनिक संस्थान आदि के विषय में संघीय आदर्श का सौरभ वाहीक - त्रिगर्त से लेकर सिन्धु नदी के पश्चिमोत्तर कम्बोज-बाल्हीक तक सर्वत्र व्याप्त हो गया था। मोटे तौर पर यह विदित होता है कि देश के प्राच्य भू-भाग में राज्य प्रथा और उदीच्य भाग में संघों की प्रथा अधिक प्रचलित थी।

जरासंध के समय में मगध में ही साम्राज्य की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो कि शिशुनाग और नन्द राजाओं के युग में और भी आगे बढ़ी, यहॉ तक कि मौर्य शासन में एकराज जनपद और गणाधीन संघ इन दोनों को समाप्त करके देश-व्यापी साम्राज्य कायम हो गया। कौटिल्य ने संघो के प्रति अपनी नीति का उल्लेख किया है कि संघ शासन में राष्ट्र की दृढ़ता में बाधा पड़ती है। अतएव साम्राज्य में उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। मौर्य शासन का ढॉचा शिथिल पड़ने के बाद फिर एक बार संघों के फेफड़े नवीन श्वास-प्रश्वास से भर गये, जिनका प्रमाण भारतीय इतिहास में 200 ई0पू0 से दूसरी शती ई0 तक के अनेक जनपद राज्यों में पाया जाता है। किन्तु संघों की यह करवट चौथी शती ईस्वी में गुप्त. साम्राज्य के उदय के साथ सदा के लिए समाप्त हो गई।

संघ-

संघ का सामान्य अर्थ समूह था, जैसे- ग्राम्य पशु संघ। संघ शब्द का दूसरा पर्याय निकाय था। अनेक धार्मिक आचार्य और प्रचारक अपने-अपने संघ और गण की दृष्टि से संघिनः गणिनः कहलाते थे। जो जैसा प्रचार करता था, जिसका जैसा व्यक्तित्व होता था उसी के अनुरूप उसके अधीन छोटे-बड़े संघ बन जाते थे। यह राजनैतिक संघ था जो अधिकांश में गण नाम से प्रसिद्ध होता था। इस अर्थ में संघ और गण दोनों पर्यायवाची थे।

निकाय-

जिस धार्मिक संघ को निकाय कहा गया है, उसका राजनैतिक संघ से पूरा मेल था। वह यह कि राजनैतिक संघों में शासन सत्ता कुछ की परिगणित कुलों में केन्द्रित होती थी, जिनका अभिषेक मंगल किया जाता था, और जो इस कारण अभिषेक वंश क्षत्रिय या राजन्य कहलाते थे। गण में दूसरी जाति के लोगों को शासन सत्ता का अधिकार न था। जातिपरक यह भेद धार्मिक संघ में बिल्कुल न था। वह समानता के आधार पर संगठित होता था।

संघ शासन-

एकराज जनपद का अधिपति भी राजा कहलाता था, एवं संघ शासन के अन्तर्गत् प्रभुसत्ता या ऐश्वर्य जितने कुल थे, उन कुलों के प्रतिनिधि भी राजा कहलाते थे। लिच्छवियों के 7707 कुलों में हर एक का प्रतिनिधि 'राजा' पद्वी धारण करता था।

"एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति।"
{ललित विस्तार}

प्रत्येक राजा या कुल में प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता में समान अधिकार प्राप्त था। पीढ़ी दर पीढ़ी सतर्कता पूर्वक अधिकार की रक्षा की जाती थी, लिच्छवियों के वैशाली नगर में गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल थे, उनके अभिषेक का जल एक विशेष पुष्करिणी या कुण्ड से लिया जाता था, जिसे मंगल पुष्करिणी कहते थे।

"वैशाली नगरे गणराज कुलानां अभिषेक मंगल पोक्खरणी।"
{जातक- 4/148}

उस पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था। अतएव जिन कुलों में प्रभुसत्ता परिनिष्ठित थी, उन्हें ही मंगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिए जल पाने का अधिकार प्राप्त होता था। यह अभिषेक किस अवसर पर किया जाता था, इस प्रश्न का उत्तर

इस प्रकार है। प्रत्येक कुल में उस कुल का बृद्ध या बड़ा बूढ़ा की मूर्धाभिषिक्त होता था। यह मूर्धाभिषेक महत्वपूर्ण प्रथा थी। कुल बृद्ध पिता के अनन्तर उसके पुत्र का मूर्धाभिषेक बड़े समारोह पूर्वक किया जाता था। आजकल की भाषा में इस लोक प्रथा को पगड़ी बाँधना कहते हैं।

इस प्रकार कुल में जिसका अभिषेक हुआ हो, वह मूर्धाभिषिक्त व्यक्ति कुल बृद्ध या भिषिक्त वंश्य कहलाता था।

राजनैतिक दल या वर्ग-

संघ के अन्तर्गत पृथक-पृथक दलों के संगठन की प्रथा थी। आजकल की तरह उस समय भी संघों का यह स्वाभाविक नियम था कि दल का नाम नेता के नाम पर पड़ता था। संघ सभा के अधिवेशन में किसी ज्ञप्ति या प्रस्ताव के समय जो मतदान या शलाका ग्रहण किया जाता था। उस समय दल के नेता का महत्व उतना न था, जितना दल के सदस्य का। उस परिस्थिति में ही वर्ग्य या पक्ष्य शब्द का आदि उदात्त उच्चारण संभव था। इसके विपरीत परम वर्ग्यः इस शब्द में परम पूर्व पद का आदि स्वर उदात्त होता था।

परमवर्ग्य-

दल के सदस्यों में जो परम या दल का नेता होता था, वह परम वर्ग्य कहलाता था। पारमेष्ठ्य नामक शासन प्रणाली में भी 'परम' पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पारमेष्ठ्य शासन कुलों के आधार पर चुनाव द्वारा सम्पन्न होने वाली पद्धति थी, जिसमें कभी कोई श्रेष्ठ चुन लिया जाता था।

"कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच् श्रेष्ठः।"
{सभा0- 14/6}

संघ के अन्तर्गत जितने भी कुल थे, उन सब कुलों में जो सब का अधिपति चुन लिया जाता था, वह श्रेष्ठ कहलाता था, जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है-

"एवमेवाभि जानान्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेत् छ्रेष्ठो जनार्दनः।"

सभी कुल मिलकर संघ के अधिपति का चुनाव करते थे।

सप्तम परिच्छेद

आयुधजीवी संघ

आयुध जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था। कौटिल्य ने दो प्रकार के जनपदों का उल्लेख किया है-

(1) आयुधीसप्राय।
(2) श्रेणी प्राय।

"यदि वा पश्येत् आयुधीय प्रायः श्रेणीप्रायो में जनपदः।"
{अर्थ0- 7/1}

किन्तु संघवृत्त प्रकरण में काम्भोज सुराष्ट्र नामक क्षत्रिय श्रेणियों को वार्ताशस्त्रोपजीवी एवं लिच्छवि बृजि मल्ल, मद्र कुकुर और कुरुपंचाल को राज शब्दोपजीवी कहा है। इससे सूचित होता है कि लिच्छवि आदि उन्नत संघ कुलों के आधार पर सगठित थे, जिनमें प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। इसके विपरीत कम्बोज सुराष्ट्र आदि श्रेणियाँ शास्त्रोपजीवी या आयुधीय थे। उनका राजनैतिक विकाश अपेक्षाकृत आरम्भिक अवस्था में था।

चार प्रकार के आयुधजीवी-

वैदिक काल में चार प्रकार के आयुधजीवी संघ कहे गये हैं।

(1) वाहीक देश के आयुधजीवी संघ।
(2) पर्वत या पहाड़ी इलाकों के आयुधजीवी संघ।
(3) पूग नामक आयुध जीवी संघ। जो ग्रामणी नामक नेताओं की अध्यक्षता में संगठित थे।
(4) ब्रात, जो सर्वथा उत्सेधजीवी दशा में जीवन व्यतीत करते थे, और जिनमें संघ प्रणाली नाम मात्र को ही थी।

पर्वतीय संघ-

उत्तर पश्चिमी भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से दो बड़े पहाड़ी प्रदेश दिखाई पड़ते हैं। एक त्रिवर्ग से दार्वाभिसार तक का प्रदेश और दूसरे सिन्ध से कापिशी

कम्बोज तक का वृस्तृत भूभाग। ये पहाड़ी राज्य अधिकांश मे आयुधजीवी संघ शासन के मानने वाले थे। महाभारत में गान्धारराज शकुनि को पर्वतीय कहा गया है। सभा पर्व में लोहित प्रदेश के दस मण्डल राज्यों का उल्लेख है। जो कि अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वी और मध्य भाग था, जहाँ इस समय कोहिस्तान का इलाका है। मार्कण्डेय एवं अन्य पुराणों में जिन जनपदों को पर्वताश्रयी कहा है, वे ही शतपथ कालीन पर्वतीय आयुधजीवी संघ थे। उनमें नीहार या नगरहार की भी गणना है, जो आधुनिक जलालाबाद का प्राचीन नाम था, जहाँ हृद्गोल या हड्डा का पहाड़ी प्रदेश है। हंसमार्ग नामक जनपद की गिनती भी पर्वताश्रयी देशों मे थी। अतएव ये काश्मीर और अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेश के निवासी थे, जिन्हें पर्वतीय आयुधजीवी कहा गया है। उद्योग पर्व में "प्रतीच्याः पार्वतीयाः" अर्थात् पश्चिमी भारत के पर्वतीयों का उल्लेख है।

{उद्योग0- 30/24}

द्रोणपर्व में स्पष्टतः उन्हें संघागिरिचारिणः एवं गिरिगह्वरवासिनः कहा गया है।

{द्रोण0- 93/48}

भीष्म पर्व में गिरिगहवर नामक जन या कबीले का उल्लेख है, जिसका अर्थ है, पहाड़ो की गुफा या गारों में रहने वाले कबायल लोग। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि सिन्धु नदी के किनारे पर बसी हुई महाबली जातियाँ ग्रामणी संज्ञक कहलाती थीं-

"सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीय महाबलाः।"
{सभापर्व- 32/9}

पूग-

आयुधजीवी संघ की अपेक्षा कम एवं ब्रात की अपेक्षा अधिक विकसित संघ पूग थे।

"नाना जातीया अनियतबृत्तयोऽर्थकाम प्रधानां संघाः पूगाः।"
{काशिका}

अर्थात् कई जाति या कबीलों के लोगो का संघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे। अधिकांश में वे लूटमार की अवस्था से ऊपर उठकर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के संघ ब्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था में थे। श्रेणि और पूग के बाद में चलकर आर्थिक संगठन भी बन गये थे।

ग्रामणी-

पूग संस्था की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए प्रमाण सामग्री की तीन कड़ियाँ ध्यान देने योग्य हैं- पहला महाभारत का यह उल्लेख कि ग्रामणी सविधान के अनुयायी कबीले सिन्धु नदी के किनारे पर आबाद थे। दूसरा कुछ ऐसे कबीले थे, जिनका नाम ग्रामणी के नाम से प्रसिद्ध होता था। और तीसरा अंगुत्तर निकाय का उल्लेख कि ग्रामणी दो प्रकार के थे, एक ग्राम ग्रामणी और दूसरा पूग ग्रामणी।

व्रात-

व्रात उन लड़ाकू जातियों की संज्ञा थी जिनका आर्यों के साथ संघर्ष हुआ था, और जो लूटमार करके निर्वाह करती थीं। ऋग्वेद में आर्य योद्धाओं को "व्रातसाहः।" कहा गया है।

{ऋ0 6/75/9}

महाभारत में दार्वाभिसार और दरद् जनपद के निवासियों को व्रात कहा गया है।

{द्रोण पर्व- 93/44}

भाष्य में व्रात का अर्थ उत्सेध या लूटमार है।

"नाना जातीया अनियत वृत्त्य उत्सेध जीविनः संघा व्राताः तेषां कर्म व्रातम् । व्रातेन कर्मणा, जीवति व्रातीनः।।"

{भाष्य- 5/2/21}

इस अर्थ में व्रातीनाः वही थे, जिन्हें श्रौत सूत्रों में व्रात्य कहा है। ब्रह्मणेतर अर्थात् वर्णाश्रम धर्म ब्राह्य आयुधजीवी जातियाँ थीं। ताण्ड्य ब्राह्मण में सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्य समुदाय किया है। वस्तुतः व्रात और व्रात्य एक ही थे।

व्रातों का जीवन-

कहा गया है कि वे तख्ते का फट्टा जड़ा हुआ छोटा खड़खड़िया रथ रखते थे और उस पर बैठ कर ऊबड़-खावड़ मार्ग में भी चाहे जहाँ जा सकते थे। आजकल जनपदीय बोली में इसे फिरक कहते हैं। बिना डोरी और बिना बाण का धनुष इस्तेमाल करते थे। जिसका तात्पर्य चलाने वाली गुलेल से था। वे टेढ़ी पगड़ी बांधते और भेड़ की खाल की पोस्तीन पहनते थे। कुछ व्रात काले कपड़े और कुछ लाल वस्त्र पहनते थे।

व्रात्य स्तोम-

इन व्रात्यों को आर्य बनाकर वर्णाश्रम और धर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत लाने के बराबर प्रयत्न किये जाते थे। उसकी युक्ति व्रात्यस्तोम यज्ञ का विधान था। व्रात्य स्तोम से यजन करने पर व्रात्य स्तोम भाव छूट जाता था। मनु ने व्रात्यों को आर्य विगर्हित कहा है। किन्तु व्रात्यस्तोम के बाद फिर वर्णाश्रमधर्मी आर्यों के साथ उनका सामाजिक व्यवहार खुल जाता था।

स्पष्ट है कि जो लोग पहले ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं थे, उन्हें ब्राह्मण या क्षत्रिय बनाकर वर्णाश्रम मर्यादा में सम्मिलित करने की प्रथा का इन शब्दों से अस्तित्व सूचित होता है। इनमे भी-

"ब्राह्मणकृताः, ब्राह्मण भूताः, ब्राह्मण मताः, ब्राह्मण समाम्नाताः, ब्राह्मणासमाख्याताः एवं क्षत्रियकृताः, क्षत्रिय भताः।" आदि कितने की तारतम्य और सूक्ष्म भेद हो सकते थे।

चार प्रकार के व्रात्य स्तोम-

व्रात्यस्तोम यज्ञ की विधि बहुत सरल थी, जिसमें कई तरह की छूट दी गई थी। व्रात्यों से जटिल कर्मकाण्ड के निर्वाह की आशा नहीं की जा सकती थी। व्रात्यस्तोम लौकिक अग्नि में ही कर सकते थे। भाड़ या चूल्हे में से अग्नि लाकर यज्ञ किया जा सकता है। जिस जनपद में जो सामान सुलभ हो उसी से काम चलाया जा सकता है। व्रात्यों के समूह में चार प्रकार की टोलियाँ होती थीं।

(1) पहला व्रात्यस्तोम उस प्रकार के लोगों के लिए था जो व्रात्यों में आचार्य या पूजा-पाठ कराने वाले थे।

(2) दूसरा व्रात्यस्तोम उन लोगों के लिए था जिन्हें निन्दित और नृशंस कहा है। अवश्य की व्रात्यों के कबीलों में यह अंश सबसे खूंखार और लड़ाकू था। लूटमार ही उनका पेशा था। उनका संस्कार, शुद्धि या मार्जन सबसे कठिन था।

(3) तीसरा व्रात्यस्तोम- कनिष्ठ युवकों के लिए था। युवकों का यह अंश उत्सेध जीवी या लोक त्रास के कारण न होने से अपेक्षाकृत सरलता से संस्कार सम्पन्न बनाया जा सकता है।

(4) चौथा व्रात्यस्तोम ज्येष्ठ या स्थविर लोगों कि लिए था। व्रात्य संघों की कुल संस्था में ये कुल बृद्ध स्थिविर या वंश्य थे, जो व्रात्यों की सभा में गृहपति होकर भाग लेते थे।

“शोध प्रबन्ध में सहायक पुस्तकों की सूची”

पुस्तक		लेखक
(1) शतपथ ब्राह्मण	–	गंगा प्रसाद उपाध्याय
(2) शतपथाऽमृत	–	सातवलेकर एवं सत्यव्रत सामश्रमी
(3) वैदिक वाङ्मय	–	पं. भगवत्‌दत्त
(4) धर्मशास्त्र का इतिहास	–	पी0 वी0 काणे
(5) संस्कृति के चार अध्याय	–	रामधारी सिंह दिनकर
(6) पाणिनि कालीन भारत	–	डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल
(7) विज्ञान भाष्य	–	मोती लाल शर्मा
(8) वैदिक धर्म	–	कीथ